श्री जैन हितेच्छु श्रावक मण्डल, रतलाम

पदाधिकारी

प्रेसीडेन्ट—श्रीमान् सेठ हीरालालजी नांदेचा
वाइस प्रेसीडेन्ट—श्रीमान् वालचन्दजी श्री श्रीमाल
खजांची—श्रीमान् सेठ विरदीचन्दजी वर्द्धमानजी पितलिया
सेक्रेटरी—सुजानमल तलेरा न्यायतीर्थ

चालू प्रवृत्तियां

(१) श्री धार्मिक परीक्षा बोर्ड का संचालन
(२) शिक्षा संस्थाओं का संचालन
(३) 'निवेदन पत्र' का प्रकाशन
(४) साहित्य का सम्पादन एवं प्रकाशन
(५) न्याय पुरःसर सत्य सिद्धांतों का प्रचार

सदस्य

५०१) एक मुश्त देनेवाले वंश परम्परा के सदस्य
१०१) एक मुश्त देनेवाले आजीवन सदस्य
२) वार्षिक शुल्क देनेवाले वार्षिक सदस्य माने जाते हैं

भूमिका

सनाथ कौन है और अनाथ कौन है, इस बात का संसार में बड़ा विवाद रहा करता है। इस विषय में भिन्न-भिन्न लोग अपनी सम्मत्ति अलग अलग बताते हैं। कोई धनवान को सनाथ बताता है, धन हीन को अनाथ कहता है। कोई पुत्र कलत्र वाले को सनाथ मानता है व जिसके ये नहीं हैं, उसे अनाथ समझता है और कोई शारीरिक बलसम्पन्न को सनाथ समझता है, रोगी, शक्तिहीन लोग उसकी दृष्टि में अनाथ हैं। इस प्रकार इस विषय में 'जितने मुंह उतनी बातें' कहावत चरितार्थ होती है। लेकिन वास्तव में सनाथ कौन है और कौन अनाथ है. इस बात के निर्णय के समीप पहुँचना जन साधारण के लिए बहुत कठिन

है। इस बात का निर्णय तो कोई ऐसा महापुरुष ही कर सकता है, जो राग द्वेष त्याग चुका हो या उस मार्ग का अग्र पथिक हो, महामुनि सनाथी, ऐसे ही महा-पुरुष थे। इस विषय में उन्होंने जो मन्तव्य प्रकट किया—सनाथ कौन है और अनाथ कौन है इसका—जो निर्णय दिया, वह किसी भी दृष्टि से और किसी को भी अमान्य नहीं हो सकता। महामुनि सनाथी द्वारा दिया गया निर्णय, श्री उत्तराध्ययन सूत्र के २० वें अध्ययन में है।

श्रीमज्जैनाचार्य पूज्य श्री १००८ श्री जवाहिरलालजी महाराज ने बीकानेर राजकोट आदि चातुर्मास में श्री उत्तराध्ययन सूत्र के २० वें अध्ययन में उल्लिखित महामुनि सनाथी द्वारा दिये गये सनाथ-अनाथ-निर्णय की विस्तृत व्याख्या की थी, जिसे इस मण्डल ने संग्रह कराया था और जो अब पुस्तक रूप में आपके कर कमलों में है। हमें आशा है कि यह पुस्तक संसार में उपस्थित सनाथ-अनाथ विषयक विवाद को मिटा कर भव्यजनों को कल्याण-मार्ग की ओर अग्रसर करने में सहायक होगी।

पूज्य श्री के व्याख्यान में से निकले हुए साहित्य से लाभ उठा सकें, इस बात को दृष्टि में रख कर प्रथमावृति मद्रास निवासी श्रीमान् सेठ पूनमचन्दजी ताराचन्दजी गेलड़ा ने इस पुस्तक की छपाई कागज आदि लागत का आधा खर्च अपने पास से प्रदान करके यह पुस्तक आधे मूल्य में ही बंटवाई थी। मण्डल, गेलड़ाजी की इस उदारता का अभिनन्दन करता है, और आशा करता है

कि समाज के अन्य सज्जन भी सेठियाजी की उदारता का अनुकरण करके जनसाधारण को ऐसे उत्तम साहित्य का लाभ पहुँचाने में सहायता करेंगे।

प्रथम संस्करण की प्रतियां बिक जाने के कारण, बहुत समय से इस पुस्तक की मांग चली आ रही है किन्तु गत समय में कागज एव प्रेस आदि की असुविधा के कारण द्वितीयावृत्ति प्रकाशित नहीं करा सके। अब जनता की मांग से प्रेरित होकर यह द्वितीयावृत्ति लागत मात्र मूल्य में आपके कर कमलों में पहुँचायी जा रही है।

स्वर्गीय पूज्य श्री जवाहरलालजी म० इस युग में एक समर्थ युग प्रवर्तक एवं प्रभावशाली आचार्य हो गये हैं। उन्होंने अपनी ओजस्वी वाणी के द्वारा सिद्धान्तों का मर्म खोलकर जनता के सामने रखा है। समाज का अहोभाग्य है कि यद्यपि वे महापुरुष इस असार संसार में भौतिक शरीर से आज विद्यमान नहीं हैं किन्तु उनका यशः शरीर हमारे बीच मौजूद है। मण्डल के कार्य कुशल एवं समयज्ञ नेताओं ने एवं सभ्यों ने पूज्य श्री के व्याख्यानों का संग्रह करवा कर यह एक जन कल्याणकारी काम किया है। स्वर्गीय पूज्य के व्याख्यानों में अभी तक लगभग ५० पुस्तकें तैयार हो चुकी हैं तथा अभी भी काफी साहित्य तैयार हो सकता है।

यह सनाथ अनाथ निर्णय का द्वितीय संस्करण है। इसे प्रथमावृत्ति से संशोधन एवं परिवर्तन किया गया है। फिर भी दृष्टि दोष से कोई भूल रही हो तो सुज्ञवाचकजन सुधार लें। यह बात स्मरण

में रखी जाय कि पूज्य श्री के प्रवचन साधु भाषा में ही होते थे। संग्राहक, संपादक या संशोधक से कोई भाव उलट गये हों तो यह दोष हमारा ही है। जनहित एवं समान कल्याण को दृष्टि में रख कर इसकी कीमत लागत मात्र रखी थी। कि भ मंडल के आद्य सेवक थैली भेंट का अर्पण की हुई रकम में से मदद दिलाकर इसे अर्द्ध मूल्य में वितरण कराई है।

भवदीय—

श्री जैन हितेच्छु श्रावक मंडल आफिस रतलाम (मालवा)

सुजानमल तलेरा — सेक्रेटरी

हीरालाल नांदेचा — प्रेसीडेन्ट

॥ श्रीः ॥

सनाथ-अनाथ निर्णय

अथवा

सनाथी श्रेणिक सम्वाद ।

संसार का कोई भी प्राणी, अनाथ रहने या अनाथ बनने की इच्छा नहीं रखता। सभी लोग सनाथ रहना चाहते हैं। यदि किसी मनुष्य को, अनाथ कह दिया जावे, तो वह इसे घोर दुःख एवम् अपमान की बात मानेगा। इससे प्रकट है, कि अनाथता बुरी है, जिसे कोई नहीं चाहता। इसके विपरीत सनाथता को सब पसन्द करते हैं, सनाथता से कोई भी घृणा नहीं करता। लेकिन देखना यह है कि सनाथता और अनाथता कहते किसे हैं ?

संसार के लोग, अपने पर किसी रक्षक, सहायक एवम् कृपा करने वाले का न होना अनाथता में मानते हैं। कोई पुरुष-

विशेष, जिसका रक्षक नहीं है, कोई सगे सम्बन्धी एवम् मित्र परिजन जिसकी सहायता करनेवाले नहीं हैं, और जो किसी व्यक्ति या जन-समूह का कृपापात्र नहीं है, सांसारिक लोग उस प्राणी को अनाथ कहते हैं। इसके विपरीत जिस प्राणी का कोई व्यक्ति विशेष रक्षक है, जिसको किसी की सहायता प्राप्त है और जिस पर कृपा करनेवाले मौजूद हैं, वह प्राणी सनाथ माना जाता है। सनाथता और अनाथता का यह अर्थ, सांसारिक लोगों की दृष्टि से है, अनाथता और सनाथता की यह परिभाषा, धर्म से दूर पड़े हुए लोग करते हैं, लेकिन वास्तव में अनाथता और सनाथता की परिभाषा, कुछ और ही है। अनाथता किसे कहते हैं और सनाथता किसे कहते हैं, यह बात महानिर्ग्रन्थ सनाथी ने महाराजा श्रेणिक को बताई थी। महामुनि सनाथी, केवल परिभाषा बताकर ही नहीं रह गये, किन्तु इसके साथ ही उन्होंने, अनाथता को नष्ट करने एवम् सनाथ बनने का अनुभूत उपाय भी बताया था और यह भी बताया था, कि गई हुई अनाथता फिर किस प्रकार एवम् किन कारणों से आजाती है, और प्राप्त सनाथता किस प्रकार तथा किन कारणों से चली जाती है। शास्त्रकारों की कृपा से, महामुनि सनाथी द्वारा किया गया उक्त प्रकार का वर्णन, उत्तराध्ययन सूत्र के २० वें अध्याय में सुरक्षित है।

महामुनि सनाथी द्वारा किये गये वर्णन का प्रारम्भ, शास्त्र-कारों ने उत्तराध्ययन सूत्र में इस प्रकार किया है—

सिद्धाणं नमो किच्चा संजयाणं च भावओ ।
अत्थधम्मगतिं तच्चं अणुसिट्ठिं सुणेह मे ॥ १ ॥

भावार्थ—सिद्ध और संयति को भाव-पूर्वक नमस्कार करके अर्थ और धर्म का सत्य स्वरूप बताने के लिये शास्त्र-या शिक्षा-को कहता हूँ, उसे सुनिये।

इस कथा को कहनेवाले वक्ता, श्री सुधर्मा स्वामी—जो भगवान महावीर के पञ्चमगणधर और पट्ट शिष्य थे—हैं और श्रोता, श्री जम्बू स्वामी हैं। इन दोनों महानुभाव का परस्पर गुरु-शिष्य का सम्बन्ध है। श्री सुधर्मा स्वामी ने श्री जम्बू स्वामी से कहा है, कि अर्थ और धर्म की ओर गति करानेवाली शिक्षा मैं सिद्ध और संयति को नमस्कार करके कहता हूँ, तुम ध्यान देकर सुनो।

सिद्ध और संयति को नमस्कार करके, वक्ता महोदय ने, कथा का मंगलाचरण किया है। प्रत्येक शुभकार्य्य में मंगलाचरण करना, एक आवश्यक कर्त्तव्य माना जाता है। मंगलाचरण के पश्चात् वक्ता महोदय ने, श्रोता महोदय को, शिक्षा श्रवण करने के लिए सावधान रहने की सूचना दी है।

श्री सुधर्मा स्वामी द्वारा किये गये मंगलाचरण पर से यह

प्रश्न होता है, कि सुधर्मा स्वामी ने, मंगलाचरण में सिद्ध और संयति को ही नमस्कार क्यों किया? अरिहन्त आचार्य एवम् उपाध्याय को नमस्कार क्यों नहीं किया?

इस प्रश्न का उत्तर यह है, कि सिद्ध और संयति को नमस्कार करने से अरिहन्त आचार्य्य और उपाध्याय को भी नमस्कार हो जाता है। अरिहन्त की गणना सिद्ध में भी हो सकती है और साधुओं में भी। रहे आचार्य्य और उपाध्याय। आचार्य्य और उपाध्याय तो साधु ही हैं, इसलिए इनकी गणना साधुओं में होना स्वाभाविक है।

मंगलाचरण करके एवम् श्रोता महोदय को सावधानी से श्रवण करने के लिए सूचना देकर, श्री सुधर्मा स्वामी कहने लगे—

पभूयरयणो राया सेणिओ मगहाहिवो।
विहार जत्तं निज्जाओ मंडिकुच्छिसि चेइए॥ २॥

भावार्थ—बहुत रत्नों का धारण करनेवाला अथवा बहुत रत्नों का स्वामी, मगधाधिप राजा श्रेणिक, क्रीड़ा के लिए निकला और मण्डिकुक्ष नाम के बाग में आया।

श्रीसुधर्मा स्वामी ने, धर्म की ओर गति करने का सच्चा उपाय, इस कथा द्वारा बतलाना प्रारम्भ किया। प्रत्येक कथा के प्रारम्भ में, कथा के पात्र व स्थान आदि का परिचय देना आवश्यक है। इस कथा के दो पात्र हैं, एक महाराजा श्रेणिक

और दूसरे महामुनि सनाथी। उक्त गाथा में, वक्ता महोदय ने कथा के एक पात्र महाराजा श्रेणिक का परिचय दिया, कि वह मगध देश का राजा और बहुत से रत्नों का स्वामी था, यानी सम्पत्तिशाली था। राजा श्रेणिक का परिचय देकर, वक्ता महोदय ने, कथा का प्रसंग बतलाया है, कि यह कथा किन प्रसंगों के कारण बनी। इसके लिए कहा है, कि वह राजा श्रेणिक विहार-मनोविनोद-के लिए निकल कर मण्डिकुक्ष नाम के उद्यान (बाग) में आया। अर्थात् इस वर्णन का स्थान, मण्डिकुक्ष उद्यान था। वह उद्यान कैसा था, इसके लिए सुधर्मा स्वामी कहते हैं—

नाणा दुम लया इणणं नाणा पक्खिनिसेवियं।
नाणा कुसुम संछन्नं उज्जाणं नंदणोवनं॥ ३॥

भावार्थ—अनेक प्रकार के वृक्ष और लताओं से भरा हुआ वह उद्यान अनेक प्रकार के पुष्पों से नन्दनवन के समान सुशोभित था। अनेक प्रकार के पक्षी उस बाग में निवास करते थे।

इस प्रकार बाग की सुन्दरता का वर्णन करके श्री सुधर्मा स्वामी कहने लगे—

तत्थ सो पासई साहुं संजयं सुसमाहियं।
निसन्नं रुक्खमूलम्मि सुकुमालं सुहोइयं॥ ४॥

भावार्थ—राजा श्रेणिक ने, उस बाग में एक वृक्ष के नीचे,

समाधि युक्त निश्चल बैठे हुए एक साधु को देखा, जिनका शरीर सुकुमार एवम् भोग भोगने योग्य था।

> तस्स रूवं तु पासित्ता राइणो तंमि संजए ।
> अच्चंत परमो आसी अउलो रूवविम्हओ ॥ ५ ॥

भावार्थ—उन साधु के उत्कृष्ट और अनुपम रूप को देख कर राजा श्रेणिक को बहुत आश्चर्य्य हुआ।

किसी विशेष-जैसी कि देखी या सुनी न हो, ऐसी-वस्तु या बात के देखने सुनने पर ही आश्चर्य होता है। सामान्य वस्तु या बात के देखने सुनने पर आश्चर्य नहीं होता। यदि इन मुनि का रूप साधारण होता, तो राजा श्रेणिक को आश्चर्य न होता। क्योंकि वह स्वयं भी बहुत सुन्दर था। उसके रूप को देख कर, कई साध्वियें, चेलना रानी के भाग्य की-ऐसा सुन्दर पति पाने के कारण-प्रशंसा करती थीं, तथा अपने तप संयम के फल स्वरूप, दूसरे भव में ऐसा ही सुन्दर पति मिलने की इच्छा करती थीं। जिस राजा श्रेणिक के रूप की कई साध्वियें भी सराहना करती थीं, वह राजा श्रेणिक मुनि के रूप को देख कर आश्चर्य करने लगा, इससे प्रकट है कि वे मुनि अनुपम सुन्दर थे। राजा श्रेणिक ने, यदि किसी दूसरे को उन मुनि के समान सुन्दर देखा होता, तो उसे आश्चार्य न होता क्योंकि फिर उसके लिये मुनि का रूप अप्रतिम न रहता-सामान्य हो जाता।

राजा श्रेणिक, साश्चर्य विचारने लगा, कि मैं इस बाग में प्रायः आया ही करता हूँ, लेकिन आज मुनि के बैठने से यह बाग जैसा मनोहर हो गया है, वैसा मनोहर आज तक और कभी न था। जान पड़ता है, कि जिस प्रकार चंद्रमा, तारों को आलोकित करता है, और चन्द्रमा प्रदत्त आलोक से तारेगण भी प्रकाशित हो उठते हैं, उसी प्रकार ये भी बाग के वृक्षादि को सौन्दर्य प्रदान कर रहे हैं और मुनि प्रदत्त सौन्दर्य से बाग भी रम्य तथा मनोहर हो गया है। इन मुनि के रूप की समता करने में इन्द्रादि का रूप भी समर्थ नहीं हो सकता।

मुनि के रूप से आश्चर्य चकित बना हुआ राजा श्रेणिक मनमें कहने लगा—

> *अहो वण्णो अहो रूवं अज्जस्स सोमया।*
> *अहो खंती अहो मुत्ती अहो भोगे असंगया॥ ६॥*

भावार्थ—अहा! इन आर्य का वर्ण (रंग) कैसा है! इनका रूप कैसा है! कैसी सरलता एवं शीतलता है! कैसी क्षमा है! कैसी निर्लोभता है! और भोगों से कैसी निस्पृहता है!

त्यागने लायक बुरे कामों को त्याग कर; उन कामों से बचे रहने वाले को, 'आर्य' कहते हैं। यह हुआ आर्य शब्द का समुच्चय अर्थ। फिर जो जिस विषय के त्यागने योग्य बुरे कार्यों को त्याग कर, उन बुरे कार्यों से बचा रहता है, उसे उसी विषय

को आर्य कहते हैं। जैसे धर्म-आर्य, देश-आर्य, समाज-आर्य आदि। राजा श्रेणिक ने, उन मुनि को 'आर्य' माना, इससे यह तो प्रकट है,कि राजा श्रेणिक—दुर्विषय-भोग, लोभ अक्षमा, वञ्चकता आदि त्यागने योग्य हैं, ऐसा जानता था, और इनके त्यागनेवाले को प्रतिष्ठा की दृष्टि से देखता था।

वर्ण का अर्थ है, रंग। रंग में भी आकर्षण होता है। अच्छा रंग, हृदय को अपनी ओर खींच ही लेता है। मनुष्य का अच्छा या बुरा रंग, शरीर के काले गोरे के भेद से नहीं होता, किन्तु सदाचार और दुराचार के भेद से होता है। सदाचार पालन से, शरीर पर एक विशेष प्रकार का उत्कृष्ट रंग निरखता है, जो दर्शक को आकर्षित किये बिना नहीं रहता। दुराचारी का वर्ण इसके विपरीत होता है। अनेक वस्त्राभूषण धारण करने, एवं कृत्रिम उपायों से अच्छा रंग बनाने की चेष्टा करने पर भी दुराचारी के शरीर का रंग, दर्शक को अपनी ओर आकर्षित करने में असमर्थ रहता है।

रूप का अर्थ, आकृति की सुन्दरता है। दूसरे को आकर्षित करने वाला, दूसरे के हृदय पर अपना प्रभाव डालने वाला रूप ही, वास्तविक रूप है।

सरलता, क्षमा और निर्लोभता भी चेहरे पर स्पष्ट दिखाई पड़ती है। विवेकवाने की दृष्टि में, सरल और कपटी क्षमाशील

और क्रोधी, निर्लोभी और लोभी छिपे नहीं रहते। चतुर मनुष्य किसी को देखते ही जान लेता है, कि यह कैसा है।

किसी रागी मनुष्य का, अपनी राग वाली वस्तु—या जिस पर राग है, उस मनुष्य-को देख कर उसे अच्छा मानना स्वाभाविक है, लेकिन ऐसे मनुष्य द्वारा अच्छा माने जाने के कारण, वह अच्छा माना गया व्यक्ति या पदार्थ वास्तव में अच्छा ही है, यह नहीं कहा जा सकता। क्योंकि वह राग रखनेवाला, उस पदार्थ या व्यक्ति से राग होने के कारण ही उसे अच्छा मान रहा है, न कि उसकी वास्तविक अच्छाई के कारण। उदाहरण के लिए सूअर विष्ठा को अच्छा मानता है, लेकिन विष्ठा अच्छी वस्तु है, यह बात कोई स्वीकार न करेगा। सूअर को विष्ठा से राग है, इसी कारण वह विष्ठा को अच्छा मान रहा है। वास्तव में उसमें भक्षण करने योग्य अच्छाई नहीं है।

राजा श्रेणिक को यदि मुनि से राग होता और इस कारण वह मुनि के वर्ण रूप को अच्छा मानता, तब तो बात ही दूसरी थी, लेकिन राजा को इन मुनि से राग नहीं है। राजा श्रेणिक स्वयं भी सुन्दर था, और वस्त्रालंकार भी पहने हुए था, लेकिन उन मुनि के शरीर पर कोई वस्त्र भी रहा होगा, या न रहा होगा। ऐसा होते हुए भी राजा को वे मुनि आश्चर्यकारी सुन्दर प्रतीत हुए, इससे प्रकट है कि उन मुनि का स्वाभाविक रूप ही अनुपम था।

रूप रंग में भी ऐसा आकर्षण होता है, कि आकर्षित व्यक्ति अपने आप को ही भूल जाता है। कहा जाता है, कि एक बार गोकुल की गोपियां किसी स्थान विशेष पर दीपक जलाने गई थीं। इतने में उस ओर कृष्ण आगये। कृष्ण की रूप छटा को देखकर गोपियाँ अपने आप को इस प्रकार भूल गईं, कि उन्होंने दीपक की बत्ती जलाने के बदले अपनी-अपनी उँगली ही जला ली। उन्हें यह भी मालूम न रहा, कि हम अपनी उँगली जला रही हैं, या दीपक। इसी प्रकार की बात मुसलमानों के पैगम्बर यूसुफ के लिए भी कही जाती है। कहा जाता है, कि यूसुफ बहुत सुन्दर था। एक बार कुछ स्त्रियों को—जो यूसुफ के समीप खड़ी यूसुफ को देख रही थीं—एक-एक नीबू काटने के लिये दिया गया। वे स्त्रियाँ, यूसुफ के रूप से आकर्षित होकर अपने आप को इस प्रकार भूली हुई थीं, कि उन्होंने नीबू के बदले अपनी-अपनी उँगली ही काट ली और उन स्त्रियों को इस बात का पता तक न लगा।

गोपियाँ और इन स्त्रियों का, कृष्ण तथा यूसुफ के रूप पर इस प्रकार आकर्षित होने में तो मोह का कारण भी हो सकता है, लेकिन राजा श्रेणिक का इन मुनि के रूप पर आकर्षित होने में यह कारण भी नहीं था। बल्कि राजा श्रेणिक उस समय तक बौद्ध मतावलम्बी थे, इसलिए उसमें जैन-साधुओं के प्रति

विशेष भक्ति भी न थी। कई बार वह जैन-साधुओं को अपमानित करने की असफल चेष्टा भी कर चुका था। जैन-साधुओं के प्रति भक्ति न होने पर और उन्हें अपमानित करने की भावना होने पर भी राजा श्रेणिक, उन मुनि के रूप से इस प्रकार आकर्षित एवं प्रभावित हुआ, कि उसे यह याद ही न रहा, कि ये मुनि रानी चेलना के उन्हीं गुरुओं में से हैं, जिन्हें अपमानित करने की मैं कई बार चेष्टा कर चुका हूँ। राजा श्रेणिक इस बाग में आया तो था केवल मनो-विनोद के लिए, लेकिन पूर्व-संचित पुण्य के प्रताप से यहाँ उसे सच्चे धर्म की प्राप्ति होनी थी, इसलिए वह अपने हृदय के दुर्भावों को भूल गया और—

तस्स पाए उ वंदित्ता काऊण य पयाहिणं ॥
नाइदूरमणासन्ने पंजली पडिपुच्छई ॥ ७ ॥

भावार्थ—राजा श्रेणिक ने उन मुनि के चरणों को वन्दना करके, उनकी प्रदक्षिणा की और न बहुत समीप न बहुत दूर बैठ कर हाथ जोड़ वह उन मुनि से पूछने लगा।

उस क्षत्रिय राजा ने अपना वह सिर जो प्राण जाते भी दूसरे किसी के—और विशेषतः जिससे प्रेम नही है, उसके-आगे नहीं झुका सकता था, मुनि के पैरों पर डाल दिया। फिर मुनि की प्रदक्षिणा करके वह सभ्यतानुसार इस प्रकार बैठा कि न बहुत

समीप और न बहुत दूर। यह करके, राजा श्रेणिक हाथ जोड़-कर मुनि से पूछने लगा—

तरुणो सि अज्जो पव्वइओ भोगकालंमि संजया ।
उवट्ठिओ सि सामण्णे एयमट्ठं सुणामिता ॥ ८ ॥

भवार्थ—हे आर्य ! मैं यह सुनने का इच्छुक हूँ, कि आप भोग के योग्य इस तरुणावस्था में, संयम में क्यों तत्पर हुए ?

राजा श्रेणिक, अब तक यह समझता है, कि मनुष्य-शरीर और विशेषतः युवावस्था केवल भोग के ही लिए है, इसकी प्राप्ति का दूसरा कोई कारण नहीं है। इस समझ पर से ही उसे, इन तरुण मुनि को देख कर यह जानने की इच्छा हुई, कि इनने भोगों को छोड़ कर दीक्षा क्यों लेली ? अर्थात् इन्हें किसी प्रकार का कष्ट था, भोग भोगने या भोग प्राप्त होने की सुविधा न थी इसलिए दीक्षा ली है, या हठवश—केवल इस मनुष्य शरीर तथा इस युवावस्था एवं सुन्दरता का अपमान करने के लिए—संयम लिया है ?

राजा श्रेणिक के उक्त प्रश्न पर से तो यही मतलब निकलता है, कि वह तरुणावस्था को भोग के योग्य समझता था संयम के योग्य नहीं समझता था और भोग को ही उत्तम मानता था, संयम को उत्तम नहीं मानता था। लेकिन पहले उसने मुनि के रंग रूप के साथ मुनि की क्षमा, सरलता आदि की जो प्रशंसा

की है, उस पर विचार करने से मालूम होता है कि वह संयम को ही उत्तम समझता था, भोग को उत्तम नहीं समझता था। इस प्रकार ये दोनों बातें परस्पर विरोधिनी ठहरती हैं। इसलिए हो सकता है कि राजा श्रेणिक संयम को ही उत्तम मानता रहा हो और मुनि से संयम लेने का कारण जानने के लिए उसने संयम के विरोधी पक्ष को ग्रहण किया हो, तथा इसी वास्ते युवावस्था को केवल भोग के योग्य बताई हो।

राजा श्रेणिक के प्रश्न में, वे मुनि कहने लगे—

अणाहो मि महाराय णाहो मज्झ न विज्जई।
अणुकंपगं सुहिं वावि कंचि नाभिसमेमहं॥ ९॥

भावार्थ—हे महाराजा, मैं अनाथ था, मेरे पर कोई ऐसा नाथ विद्यमान न था, जो मुझ पर कृपा रखता, अप्राप्त वस्तु प्राप्त कराता तथा प्राप्त वस्तु की रक्षा करता। न कोई ऐसा सुहृद ही था जो मुझ पर दया करके मुझे थोड़ा भी सुख देता।

मुनि के उत्तर का अभिप्राय यह है कि मुझ पर कोई नाथ न था—कोई कृपा करके सुख देने वाला नहीं था—मैं अनाथ था, इसलिए मैंने संयम ले लिया। सनाथी मुनि के इस उत्तर से, साधारण बुद्धि वाले का यह समझना स्वाभाविक है, कि ये गरीब होंगे, इसलिए साधु बन गये; लेकिन सनाथी मुनि के उत्तर में बहुत गूढ़ तत्त्व भरा हुआ है, जो आगे प्रकट होगा।

राजा श्रेणिक, मुनि के रूप, रंग, यौवन आदि को देखकर ही आश्चर्य में पड़ा हुआ था, और आश्चर्य के वश होकर ही उसने मुनि से उक्त प्रश्न भी किया था, लेकिन मुनि के उत्तर से राजा का आश्चर्य घटने की जगह और बढ़ गया। वह विचारने लगा, कि जिनको देखकर वैरी के हृदय में भी प्रसन्नता दौड़ जाती है वे अनाथ कैसे हो सकते हैं ? क्या संसार में गुण-ग्राहक एवं सौन्दर्योपासक का अभाव हो गया है, जो ऐसे सरल सुन्दर और गुणवान युवक को नाथ या मित्र नहीं मिला ! क्या बुद्धि-मान एवं विचारवान् लोगों की संसार में कुछ कमी पड़ गई है, जो नाथ या मित्र के अभाव में इन्हें दीक्षा लेनी पड़ी ! इस प्रकार मुनि के उत्तर से आश्चर्य में पड़कर—

तओ सो पहसिओ राया सेणिओ मगहाहिवो ।
एवं ते इड्ढिमंतस्स कहं णाहो न विज्जई ॥१०॥

भावार्थ—राजा श्रेणिक, मुनि का उत्तर सुनकर हँस पड़ा और मुनि से कहने लगा कि जो इस प्रकार की ऋद्धि से सम्पन्न है, उस पर नाथ विद्यमान न हो, यह कैसे हो सकता है ?

संसार के बहुत से लोग, धन वैभव आदि को ही ऋद्धि मानते हैं, लेकिन अपने को अनाथ बतानेवाले इन मुनि के पास एक पैसे की भी सम्पत्ति नहीं है। दूसरी तरफ राजा श्रेणिक, [illegible] का राजा और अनेक रत्नों का स्वामी है। ऐसा होते

हुए भी, वह मुनि को ऋद्धि-सम्पन्न बता रहा है, इससे प्रकट है, कि राजा श्रेणिक की दृष्टि में भी धन-वैभव ऋद्धि नहीं है, किन्तु उत्तम आकृति, प्रकृति एवं गुण ऋद्धि हैं। यदि राजा श्रेणिक धन-वैभव वाले को ऋद्धिमान मानता होता, तो इन मुनि को ऋद्धि-सम्पन्न न बताता। राजा श्रेणिक की दृष्टि में वैभव प्रकृतिदत्त नहीं है, यह तो प्रकृति से विरोध करने पर भी प्राप्त हो सकता है, लेकिन अच्छी आकृति उत्तम स्वभाव और श्रेष्ठ गुण प्रकृति की कृपा से ही प्राप्त हो सकते हैं। संसार में भी बड़ी आँख, सुडौल नाक, प्रशस्त भाल, विशाल वक्षस्थल, लम्बे हाथ और बड़े कानवाला पुण्यवान माना जाता है। इस प्रकार की उत्तम आकृति, प्रकृति के द्वारा तभी प्राप्त होती है, जब पुण्य का उदय हो।

मुनि के उत्तर से, राजा श्रेणिक को आश्चर्य हो रहा था, लेकिन राजा बुद्धिमान था। उसने विचार किया, कि मुनि से, प्रत्युत्तर में मैं ऐसी बात क्यों न कहूँ कि जिस से मेरा आश्चर्य भी मिट जावे तथा मुनि द्वारा दिये गये उत्तर का भेद भी खुल जावे। इस प्रकार विचार कर, राजा श्रेणिक उन मुनि से कहने लगा—

> होमि नाहो भयंताणं भोगे भुंजाहि संजया।
> मितनाईपरिवुडो माणुस्सं खु सुदुल्लहं ॥ ११ ॥

भावार्थ—हे भयत्राता संयति! मैं आपका नाथ होता हूँ, यह मनुष्य भव अति दुर्लभ है अतःमित्र ज्ञाति के साथ मिल कर भोग भोगिये।

राजा श्रेणिक कहता है, कि हे संयति! पहले तो यह संभव नहीं, कि आप जैसे ऋद्धि सम्पन्न का कोई नाथ न हो। कदाचित आपका कथन यथार्थ हो और आप ने अनाथ होने के कारण ही संयम लिया हो, तो लीजिये, मैं आपका नाथ बनता हूँ। अब तो आप अनाथ नहीं रहते हैं, इसलिए उठिये; और मेरे साथ चलिये। यह दुर्लभ मनुष्य-जन्म इस प्रकार संयम में बिताने के लिए नहीं है, किन्तु पुण्य से प्राप्त भोगों का उपभोग करने के लिये है। इसलिए संसार के भोग भोगिये। मेरे नाथ बन जाने पर, आपके लिए किसी भी प्रकार के भोगों की कमी न रहेगी। मैं आप को पराधीन बनाने के लिए आप का नाथ नहीं बन रहा हूँ, किन्तु आपकी सुविधा के लिए, आपका कष्ट मिटाने के लिए और आप को भोगों से भेंट कराने के लिए ही आपका नाथ बन रहा हूँ। इसलिए आप अविलम्ब मेरे साथ चलिये। मुझे भी आप का नाथ बनने में बड़ी प्रसन्नता है। दुःख तो यह है, कि आप मुझे पहले नहीं मिले। यदि पहले ही मिल गये होते तो आपको संयम लेना ही न पड़ता।

राजा के इस कथन में कई रहस्य हैं। मुनि की इस बात पर, कि 'मेरा कोई नाथ नहीं था, इस लिए मैं संयम में प्रव्रजित

हो गया' राजा को विश्वास नहीं हुआ। उसने मुनि के कथन की यथार्थता जानने के लिए, किसी और उपाय के बदले मुनि का नाथ बनने के उपाय का अवलम्बन लेना उचित समझा। उसने विचारा, कि यदि मुनि का कथन सत्य हो, तब तो मैं नाथ बनता ही हूँ। मेरे नाथ बनने पर यदि ये संयम त्याग कर मेरे साथ आ गये तो मुझे एक अद्वितीय ऋद्धि-सम्पन्न व्यक्ति की प्राप्ति होगी। और यदि इन मुनि ने केवल बहाना बनाने के लिए अपने को अनाथ बतलाया है, तो मेरे उक्त कथन से मेरी उदारता के दिग्दर्शन होने के साथ ही, मुनि की बात का असली रहस्य भी खुल जावेगा। इसके सिवा, मैं राजा हूँ। कोई अपना दुःख मेरे सामने प्रकट करे, तो उस दुःख को मिटाना मेरा कर्त्तव्य है। इन मुनि ने अनाथता के दुःख से दुःखित होकर दीक्षा लेने की बात कही है, इस पर भी यदि मैं इनका नाथ न बनूँ, इनकी अनाथता न मिटाऊँ, तो फिर मैं राजा ही कैसा? जो वृक्ष, ताप से दुःखित को छाया देकर शान्ति नहीं पहुंचा सकता, वह वृक्ष ही कैसा! इसलिए मेरा यह कहना कि मैं आपका नाथ बनता हूँ, मेरा कर्त्तव्य भी है। इस प्रकार कई कारणों को दृष्टि में रखकर ही राजा श्रेणिक ने मुनि से यह कहा कि मैं आपका नाथ बनता हूँ।

राजा श्रेणिक ने, भोगों के त्यागी मुनि को भोग भोगने के लिए आमन्त्रित करके एक प्रकार से मुनि की अवज्ञा की, फिर

भी वे मुनि, राजा पर रुष्ट नहीं हुए, न उन्होंने राजा की बात से कुछ दुःख ही माना। वे जानते थे, कि मैंने जिस अभिप्राय से अपने-आप को अनाथ बताया, राजा मेरे उस अभिप्राय को नहीं जानता। इसी वास्ते यह मेरा नाथ बनने को तयार हुआ है और मुझे भोगों का प्रलोभन दे रहा रहा है। राजा की बात के उत्तर में उन्होंने राजा से कहा—

अप्पणा वि अणाहो सि सेणिया मगहाहिवा ।
अप्पणा अणाहो सन्तो कस्स नाहो भविस्ससि ॥१२॥

भावर्थ—हे मगधाधिप श्रेणिक! तू स्वयं भी तो अनाथ है! जब तू स्वयं ही अनाथ है, तो मेरा नाथ किस प्रकार हो सकता है?

मुनि की यह बात सुनकर—

एवं वुत्तो नरिंदो सो सुसंभंतो सुविम्हिओ ।
वयणं असुयपुव्वं साहुणा विम्हयन्नियो ॥१३॥

भावार्थ—पूर्व में जो कभी किसी से नहीं सुनी गई थी, ऐसी बात उन मुनि के मुख से सुनकर, राजा श्रेणिक को इतना आश्चर्य हुआ कि उसका चित्त घबरा-सा गया।

राजा श्रेणिक को, एक तो मुनि के रूप रंगादि से ही आश्चर्य था, दूसरे यह आश्चर्य हो रहा था, कि ऐसे ऋद्धिमान अनाथ कैसे! इतने में ही मुनि के इस कथन ने और भी आश्चर्य

बढ़ा दिया। वह विचारने लगा, कि मैंने अपना समाधान करने—अपना आश्चर्य मिटाने—के लिए मुनि से कहा था कि मैं आपका नाथ होता हूँ, लेकिन इन मुनि ने तो मुझे ही अनाथ बता कर मेरे हृदय में और आश्चर्य उत्पन्न कर दिया। आज तक मुझे किसी ने भी अनाथ नहीं कहा था। यह तो कहा नहीं जा सकता, कि ये मुनि मुझे जानते नहीं हैं, क्योंकि ये अपने मुख से ही कई बार मुझे 'मगधाधिप महाराजा श्रेणिक' कहकर सम्बोधन कर चुके हैं। हाँ, यह हो सकता है कि इन्हें मेरी सम्पत्ति का पता न हो, यानी यह मुनि यह न जानते हों, कि राजा कैसा सम्पत्तिवान है। इसलिए मुझे उचित है कि मैं अपनी सम्पत्ति से इन मुनि को परिचित करूँ। इस प्रकार विचार कर राजा श्रेणिक उन मुनि से कहने लगा—

अस्सा हत्थी मणुस्सा मे पुरं अन्तेउरं च मे।
भुंजामि माणुसे भोए आणा इस्सरियं च मे ॥१४॥
एरिसे सम्पयग्गम्मि सव्वकामसमप्पिए।
कहं अणाहो भवई मा हु भन्ते मुसंवए ॥ १५ ॥

भावर्थ—मेरे यहाँ हाथी हैं, घोड़े हैं, प्यादे हैं, मैं ग्रामों एवं नगरों का स्वामी हूँ, और मेरे यहाँ रानियाँ हैं जिनके द्वारा मैं मनुष्योचित भोग भोगता हूँ। इतना ही नहीं, किन्तु प्रधान-प्रधान सम्पत्ति भी मेरे यहाँ है और मैं आज्ञा का भी ईश्वर हूँ यानी मेरी दुहाई (आज्ञा) मानी जाती है। इस प्रकार सब कामनाओं को पूर्ण

करने वाली सम्पत्ति का स्वामी होते हुए भी मैं अनाथ कैसे हूँ ? हे भगवन् ! आप झूठ तो न बोलिए।

राजा श्रेणिक, अपनी सम्पदा के कारण अपने आप को सनाथ मान रहा है। वह सोचता है, कि मेरे पास ऐसी तो सम्पदा है, और यह सम्पदा भी मेरे पास उसी प्रकार आई, है, जिस प्रकार नदियाँ समुद्र के पास जाती हैं—यानी इस सम्पदा के लिए, न तो मैंने किसी के आगे दीनता ही दिखाई है, न मेरे पास आने के लिए इस सम्पदा से ही प्रार्थना की है ! ऐसा होते हुए भी मैं अनाथ कैसे ? राजा श्रेणिक की दृष्टि में, अनाथ वही है, जिसके पास ऐसी सम्पदा का थोड़ा भी भाग न हो। आज भी, सांसारिक लोग उसे ही अनाथ मानते हैं, जो द्रव्यहीन, कुटुम्बहीन एवं मित्रहीन हो लेकिन ऐसा समझना कैसी भूल है, यह बात अनाथी मुनि ने बतलाई है।

राजा श्रेणिक, वीर था। वीर लोग, हृदय के भावों को दबाकर नहीं रखते, किन्तु स्पष्ट रूप से प्रकट कर देते हैं। राजा श्रेणिक, अनाथ उसे ही मानता था, जो द्रव्य, कुटुम्ब, एवं मित्र-हीन हो; इसलिए मुनि की बात उसे झूठ मालूम हुई। मुनि की बात के विषय में उसे जो भ्रम हुआ, उस भ्रम को उसने छिपा कर नहीं रक्खा, किन्तु वह वीर था इसलिए उसने स्पष्ट कह दिया, कि मुनि को झूठ तो न बोलना चाहिए ! वीरों के सिवा और कोई, इस प्रकार स्पष्ट बात कहने का साहस नहीं

कर सकता। वीरों के हृदय, स्वच्छ रहते हैं, उनमें साहस होता है, इसलिए वे किसी भी कारण या भय से अपने हृदय के भावों को छिपाते नहीं, किन्तु स्पष्ट प्रकट कर देते हैं। इसके सिवा, जिससे हम अपना भ्रम मिटाना चाहते हैं, उसके सामने मनोगत भावों को छिपाना भी अनुचित है। ऐसा करने से, भ्रम का मिटाना कठिन हो जाता है।

राजा की बात सुनकर और विशेषतः राजा ने मुनि पर मृषावाद का दोष लगाया इस पर से, उन मुनि को राजा के प्रति किंचित भी क्रोध, क्षोभ या घृणा नहीं हुई। वे मुनि जानते थे, कि राजा में, मिथ्यात्व (अज्ञान) है, इसी से यह धन सम्पत्ति आदि न होने में ही अनाथता मान रहा है और इसी कारण यह मेरे कथन को, कि 'तू स्वयं भी अनाथ है' झूठ जान रहा है। जब यह अनाथता के रूप को समझ लेगा, तब स्वयं ही अपने-आप को अनाथ मान लेगा। अभी तो यह अपने पक्ष को लेकर कह रहा है, और मैं अपने पक्ष को लेकर कह रहा हूँ। मुझे अपना पक्ष इसे समझाना चाहिए। इस प्रकार विचार कर, वे मुनि राजा से कहने लगे—

न तुमं जाणे अणाहस्स अत्थं पुत्थं च पत्थिवा।
जहा अणाहो भवई सणाहो वा नराहिवा ॥१६॥
सुणेह मे महाराय अव्वक्खित्तेण चेयसा
जहा अणाहो भवई जहा मेयं पवत्तियं ॥१७॥

भावार्थ—हे पृथ्वीपति, हे नराधिप, तुम नाथ शब्द का अर्थ और उसकी व्युत्पत्ति नहीं जानते हो, न यह जानते हो, कि अनाथ या सनाथ किस प्रकार होता है। इसलिए हे महाराज, अनाथ किसे कहते हैं, और मैंने आपको किस आशय से अनाथ कहा है, यह एकाग्रचित्त से सुनो।

मुनि ने, राजा श्रेणिक को, पृथ्वीपति, नराधिप और महाराजा कह कर सम्बोधन किया है। इस प्रकार के सम्बोधनों द्वारा, उन मुनि ने राजा श्रेणिक पर यह प्रकट किया कि तू राजा है, पृथ्वी एवं मनुष्यों का स्वामी है और इस कारण तेरे पास धन-वैभव भी बहुत है, यह मैं जानता हूँ। यह जानते हुए भी, मैंने तुझे अनाथ क्यों कहा, इस बात को मेरे ही द्वारा सुन। अभी तो तेरे को मेरी बात असत्य जान पड़ी है, लेकिन 'नाथ' शब्द का अर्थ और अनाथता-सनाथता का भेद जान लेने पर तेरे को मेरी बात सत्य जान पड़ेगी। अनाथता-सनाथता का भेद मैं केवल विद्वता की सहायता से ही नही बताऊँगा, किन्तु अनुभूत बताऊँगा। अनाथता किसे कहते हैं और वह कैसी होती है यह मैं अपने पर ही बताता हूँ।

मुनि ने, राजा श्रेणिक को सावधान करने के लिए कहा है, कि तू अविच्छिन्न यानी एकाग्र-मन से मेरी बात सुन! वास्तव में कोई बात उस समय तक समझ में नही आती, जब तक कि चित्त स्थिर न हो। स्थिर चित्त से सुनी हुई बात को, बुद्धि उसी

प्रकार शीघ्र ग्रहण करती है, जिस प्रकार स्थिर जल प्रतिबिम्ब दिखाने में देर नहीं करता। खौलते हुए जल में, अनेक उपाय करने पर भी प्रतिबिम्ब दिखाई नहीं देता। ठीक इसी प्रकार चाहे कैसी भी अच्छी बात हो, चाहे कैसा भी उत्तम विषय हो, जब तक चित्त स्थिर न होगा, बुद्धि उस बात या विषय को ग्रहण करने में असमर्थ ही रहेगी।

राजा श्रेणिक को, अनाथता सनाथता का भेद सुनने के लिए तत्पर देख मुनि कहने लगे—

कोसम्बी नाम नयरी पुराण पुर भेयणी।
तत्थ आसी पिया मज्झ पभयधणसंचओ॥ १८॥

भावार्थ—कौशम्बी नाम की नगरी-जो प्राचीन से भी प्राचीन थी, प्राचीन कहलाने वाले नगरों की प्राचीनता का भी उल्लंघन करनेवाली थी, में मेरे पिता रहते थे; जिनके पास प्रचुर धन संचित था (या उनका नाम प्रचुरधनसंचयी था।)

कौशम्बी नगरी की प्राचीनता बताने में, मुनि का अभिप्राय उस नगरी की विशेषता बताना है। प्राचीन नगरों में जो विशेषता होती है, वह विशेषता नवीन नगरों में नही होती। मुनि का कथन है, कि यह कौशम्बी नगरी प्राचीन से भी प्राचीन थी। और सब तरह से उन्नत थी।

कौशम्बी नगरी की विशेषता बताने के संभवतः दो कारण

हैं। पहला कारण तो राजा का अभिमान घटाना है। राजा श्रेणिक, अब तक अपने ही राज्य के नगरों को उन्नत समझता है, लेकिन मुनि ने कौशाम्बी नगरी की प्राचीनता के वर्णन द्वारा राजा को यह बतलाया है, कि तू जिन नगरों का राजा है, उन नगरों से भी कौशाम्बी नगरी उन्नत है। दूसरे आगे आनेवाले वर्णन से भी, इस प्राचीनता एवं विशेषता का बहुत कुछ सम्बन्ध होगा।

पिता के निवास स्थान का परिचय देकर मुनि ने, पिता के निवास स्थान सम्बन्ध से कौशाम्बी नगरी को अपना जन्म-स्थान भी बता दिया। एक बात में दूसरी बात का सम्बन्ध बतानेवाले अलंकार को अर्थापति अलंकार कहते हैं। मुनि ने अपने जन्मस्थान का परिचय अर्थापति अलंकार द्वारा ही दिया है। इसी प्रकार पिता को धनिक बता कर मुनि ने अपने लिए भी यह बता दिया, कि मैं बहुत धनवान था। मुनि ने, माँ भाई, बहिन, स्त्री आदि का वर्णन भी इसी प्रकार किया है. और अर्थापति अलंकार द्वारा अपने संसारिक-जीवन का परिचय दिया है।

जन्म-स्थान एवं पिता का परिचय देकर वे मुनि अब यह बताते हैं, कि मैं किस प्रकार अनाथ था। सब से पहले वे राजा को अपनी शरीर सम्बन्धी अनाथता सुनाकर यह बताते हैं, कि जिस शरीर को तू बहुत अच्छा बताता है, जिस युवावस्था को तू भोग के योग्य मानता है, उस शरीर एवं युवावस्था की

ओर से मैं किस प्रकार अनाथ था, इसे देख और अपने आप के लिए भी विचार कि मेरी ही तरह तू भी अनाथ है या नहीं! वे मुनि कहने लगे—

पढमे वए महाराय अतुला मे अच्छिवेयणा
अहोत्था विउलो दाहो सव्वंगेसु पत्थिवा ॥ १६ ॥

भावार्थ—हे महाराजा, हे पृथ्वीपति, युवावस्था के प्रारम्भ में, मेरी इन आँखों में अनुपम वेदना उत्पन्न हो गई और इसी प्रकार सारे शरीर में प्रचण्ड दाह उत्पन्न होगया।

मुनि ने शरीर से पहले, युवावस्था की ओर से अनाथता बताई है। क्योंकि राजा श्रेणिक ने, भोग के लिए शरीर की अपेक्षा युवावस्था को अधिक उपयोगी मान रखा था। युवावस्था में होनेवाली पीड़ा का वर्णन करके, वे मुनि, राजा श्रेणिक को यह बता रहे हैं, कि राजा जिस युवावस्था को तू भोग के योग्य मानता है उस युवावस्था में भी किस प्रकार की अनाथता घुसी हुई है, यह देख! आगे अर्थापत्ति अलंकार द्वारा मुनि ने यह भी बता दिया है, कि मेरे स्त्री भी थी और वह सुन्दरी तथा पतिभक्ता थी। अर्थात् युवावस्था के साथ ही भोग के साधन भी प्रस्तुत थे, फिर भी मैं युवावस्था की ओर से किस प्रकार अनाथ था।

युवावस्था के प्रारम्भ में उत्पन्न आँखों की वेदना कैसी थी, यह बताने के लिये मुनि कहते हैं—

सत्थं जहा परमतिक्खं सरीर विवरन्तरे।
आवीलिज्ज अरी कुद्धोएवं-मे अच्छिवेयणा॥ २०॥

भावार्थ—कोपा हुआ शत्रु शरीर के छिद्रों में तीक्ष्ण शस्त्र घुसेड़े और उस समय में जैसी वेदना हो, वैसी ही वेदना मेरी आँखों में हो रही थी।

मुनि कहते हैं—राजा, तेरे कथनानुसार युवावस्था में आँखें स्त्री-सौन्दर्य देखने के लिए थीं, लेकिन आँखों में ऐसी वेदना हो रही थी, कि स्त्री-सौन्दर्य देखने के स्थान पर मैं यह कहता था, कि ये आँखें हैं ही क्यों? इसी प्रकार युवावस्था के लिए भी, मैं यही कहता था, कि निगोड़ी युवावस्था न मालूम कैसी आई, जिसके आते ही मेरी आँखों में इस प्रकार की वेदना होने लगी। अब राजा, तू ही बता, कि मैं युवावस्था और आँखों की ओर से सनाथ रहा या अनाथ? यदि मैं इनकी ओर से सनाथ होता, तो इनके द्वारा मुझे कष्ट ही क्यों होता? मैं युवावस्था और आँख की ओर से सनाथ नहीं था, किन्तु अनाथ था। इसी प्रकार मेरी ओर से भी युवावस्था और आँखें अनाथा थीं। मैं तो यह चाहता नहीं था, कि इस युवावस्था में आँखों को इस प्रकार की पीड़ा हो। मैं तो यही चाहता था, कि इस युवावस्था और आँखों द्वारा सुख हो, इसी प्रकार युवावस्था और आँखें भी सुख ही चाहती थीं, लेकिन न तो मेरा चाहा ही हुआ, न युवावस्था और आँखों का चाहा ही हुआ। ऐसी दशा में मैं इनकी ओर

से कैसे सनाथ रहा और युवावस्था एवं आँखें भी मेरी ओर से कैसे सनाथा रहीं ?

हे राजा, आँखों में इस प्रकार की पीड़ा थी; शरीर दाह से दग्ध हो रहा था, उस पर भी—

तियं मे अन्तरिच्छं च उत्तमङ्गं च पीडई ।
इन्दासणि समा घोरा वेयणा परमदारुणा ॥ २१ ॥

भावार्थ—हृदय कमर तथा मस्तक में ऐसी असह्य एवं दारुण वेदना हो रही थी, जैसे इन्द्र के वज्राघात से घोर वेदना होती हो।

मुनि कह रहे हैं कि मेरी इन आँखों में जैसे शत्रु तीक्ष्ण शस्त्र घुसेड़ता हो, शरीर में जैसे ज्वाला लगी हो, और हृदय कमर तथा मस्तक में जैसे इन्द्र वज्र मारता हो, ऐसी दारुण पीड़ा हो रही थी। मुनि के इस कथन का अभिप्राय राजा को यह बताना है कि तू बाह्य शत्रुओं को जीतने के लिये सेना का बल रखता है, लेकिन जो शत्रु शरीर के भीतर रह कर ही इस प्रकार की पीड़ा उपजावे, उसे जीतने के तेरे पास क्या उपाय है ? जो शत्रु चर्म-चक्षु से दिखता है, उसे तो तू कभी नष्ट भी कर सकता है लेकिन जो शत्रु अपने ही शरीर के भीतर रहता हुआ भी नजर नहीं आता उसे तू कैसे नष्ट कर सकता है ? इसके सिवा वेदना के समय शरीर आँखें आदि शत्रु का काम कर रही थीं, या मित्र का ? यदि मित्र का काम करतीं, तब तो वेदना ही क्यों होती, और शत्रु का का काम करती थीं, तब तो मैं उनकी ओर से सनाथ

कैसे रहा ? राजा, तू मेरा नाथ बनने को तयार हुआ है, लेकिन मेरे कथन पर से तू अपने आप के लिये भी विचार ले, कि तू अपने शरीर की ओर से सनाथ है या अनाथ ? संसार में, आत्मा का निकट से निकट सम्बन्धी शरीर है। इस निकट सम्बन्धी शरीर की ओर से भी मैं किस प्रकार अनाथ था और तू भी किस प्रकार अनाथ है, इसे देख। क्या यह मनुष्य-शरीर रोग रहित है ? यदि नहीं, तो जो स्वयं अनाथ है-जो अपने आप की ही रक्षा करने में असमर्थ है-वह मेरा नाथ कैसे हो सकता है ? इसी प्रकार शरीर भी मेरी ओर से सनाथ कैसे रहा ? यदि मैं शरीर का नाथ होता, तो शरीर में वेदना ही क्यों होने देता ?

राजा कदाचित तू यह कहे, कि रोगों को तो औषधादि से निर्मूल भी किया जा सकता है, तो सुन—

उवट्ठिता मे आयरिया विज्जामंत तिगिच्छया।
अधी या सत्थ कुसला मन्त मूल विसारया ॥ २२ ॥

भावार्थ—मन्त्र और जड़ी बूटी से रोग मिटाने में विशारद, चिकित्सा के उपयोगी शास्त्र एवं शस्त्र के कुशल विद्वान आचार्य चिकित्सक मेरी चिकित्सा करने के लिए आए।

मुनि ने शरीर में रोगों की उत्पत्ति बता कर, शरीर की ओर से अनाथता बताई थी, लेकिन इनके विषय में श्रेणिक राजा यह कह सकता था, कि रोग तो कुशल वैद्यों द्वारा मिटाये जा सकते हैं। राजा श्रेणिक द्वारा कही जा सकने वाली बात का मुनि

पहले से ही निराकरण कर देते हैं। वे कहते हैं–राजा, तू यह मत समझ, कि मैं वैद्यादि उपचार के अभाव से वेदना पा रहा था। यह मैं पहले ही कह चुका हूँ कि कौशम्बी नगरी प्राचीन से भी प्राचीन थी। उसकी प्राचीनता के कारण उसमें वैद्यों के भी आचार्य रहते थे। वे वैद्याचार्य, मन्त्र-विद्या में भी निपुण थे, और जड़ी बूटी द्वारा औषध करने में भी कुशल थे। उनका अनुभव ऐसा बढ़ा हुआ था, कि वे रोगी को देखते ही रोग का निदान कर लेते थे और एक ही बार के मन्त्र पढ़ने या दवा देने से, वे रोग को मिटा देते थे।

ते मे तिगिच्छं कुव्वन्ति चाउप्पायं जहाहितं।
न य दुक्खा विमोयन्ति एसा मज्झ अणाहया ॥ २३ ॥

भावार्थ—वे वैद्याचार्य मुझे निरोग करने के लिए, रोग का निदान करना, औषधि देना, पथ्य सेवन कराना और परिचर्या कराना; अथवा वमन, विरेचन, मर्दन और स्वेदन; अथवा अंजन, बंधन, लेपन और मर्दन इन चारों प्रकार से मेरी चिकित्सा करने लगे, मगर मुझे दुःख मुक्त न कर सके। इस प्रकार की मेरी अनाथता थी।

मुनि कह रहे हैं—राजा, इस प्रकार मेरे लिए बड़े-बड़े आचार्यों द्वारा औषधोपचार हुआ, लेकिन मेरा रोग नहीं गया। अब बतला कि मैं वैद्य औषध आदि की ओर से भी अनाथ था या नहीं और इस ओर से तू भी अनाथ है या नहीं ?

मुनि की बात सुन कर, राजा श्रेणिक विचारता है, कि वास्तव में यदि शरीर में रोग हो जावे तो अधिक से अधिक उन्हें मिटाने के लिए औषधोपचार आदि ही किया जा सकता है, और क्या किया जा सकता है? लेकिन यदि औषधोपचार से भी रोग न जावे, तो मैं राजा होकर भी क्या कर सकता हूँ? औषधादि से सबका रोग जाता भी तो नहीं है! इसी प्रकार यदि कोई बाहर से शस्त्र मारता हो, तो उसे रोका जा सकता है, लेकिन अपने शरीर के भीतर से शस्त्र मारने वाले को कैसे रोका जा सकता है? इस ओर से तो सचमुच मैं भी अनाथ ही हूँ!

मुनि कहते हैं—राजा, वैद्य आदि की ओर से तो मैं अनाथ था ही, लेकिन औषध मन्त्र आदि का आश्रय ग्रहण करने वाले—उनके बल पर अपने को सनाथ मानने वाले—वे वैद्य स्वयं भी अनाथ थे। यदि वे अनाथ न होते, तो औषध मन्त्र आदि का आश्रय ही क्यों लेते! उनने जिन औषध मन्त्र का आश्रय लिया है, वे औषध मन्त्र उनको स्वयं को भी तो कष्ट-मुक्त नहीं कर सकते! इस प्रकार जब वैद्य स्वयं ही अनाथ थे, तब मुझे कष्टमुक्त करके सनाथ कैसे बना सकते थे?

यहाँ ये प्रश्न होते हैं, कि मुनि के शरीर में रोग हुए इस पर से उन्होंने शरीर की ओर से अनाथता सिद्ध की, लेकिन सभी लोगों के शरीर में तो ऐसे रोग होते नहीं हैं, बहुत लोग बिलकुल

स्वस्थ भी होते हैं! ऐसी दशा में, शरीर की ओर से सब अनाथ ही हैं, यह कैसे कहा जा सकता है? इसी प्रकार वैद्य औषधादि से मुनि का रोग नहीं गया तो क्या हुआ, लेकिन और लोगों का रोग जाते भी तो देखा जाता है! फिर वैद्य या औषधादि की ओर से भी अनाथता कैसे सिद्ध हो सकती है? कदाचित ये मुनि तो इस ओर से अनाथ कहे भी जा सकते हैं- क्योंकि इन्हें रोग हुए और वे रोग वैद्यादि से नहीं मिटे—लेकिन जो लोग निरोगी हैं, या रोग होने पर भी जिन्हें वैद्य औषधादि से लाभ पहुंचाता है, वे तो सनाथ हैं न? हाँ, मनुष्य-शरीर सर्वथा रोग रहित नहीं है, लेकिन जब तक रोग रहित है, तब तक तो शरीर की ओर से अनाथता नही है न? इन प्रश्नों का समाधान, संक्षिप्त में नीचे किया जाता है।

मुनि ने राजा श्रेणिक से कहा है, कि 'मैं अनाथ था।' उन के द्वारा कहा गया 'मैं' सर्वनाम आत्मा का है, न कि शरीर का। यानी यह आत्मा अनाथ था। यदि उन्होंने शरीर के लिए 'मैं' सर्वनाम का प्रयोग किया होता, तो उन्हें शरीर की ओर से अनाथता सिद्ध करने की आवश्यकता न रहती। उन्होंने आत्मा को अनाथ बता कर, सबसे पहले निकट-सम्बन्धी शरीर की ओर से आत्मा की अनाथता सिद्ध की है। शरीर रोग शोकादि दुःखों से रहित है, यह कोई नहीं कह सकता; और जब शरीर स्वयं भी दुःख सहित है, तो यह दूसरे को-यानी आत्मा को सनाथ कैसे कर सकता है? इसके सिवा, शरीर जड़ है।

जड़-शरीर, चैतन्य आत्मा का नाथ भी कैसे हो सकता है। इसी प्रकार यदि आत्मा भी शरीर का नाथ होता, तो आत्मा शरीर में रोग आने ही क्यों देता? आत्मा कब चाहता है कि शरीर में रोग हों? आत्मा के बिना चाहे ही शरीर को रोग आ घेरते हैं, इस से सिद्ध है, कि आत्मा की ओर से शरीर भी अनाथ है। इस प्रकार मुनि का शरीर की ओर से आत्मा को और आत्मा की ओर से शरीर को अनाथ बताना, बिलकुल ठीक ही है। जो शरीर इस समय रोगी नहीं है वह भी अनाथ ही है। क्योंकि अभी रोग उदय में न आये हों तो क्या, लेकिन शरीर में रोग हैं अवश्य। और जब शरीर में रोग हैं, तो वे अवश्य ही उदय में आवेंगे। अभी रोग उदय में नहीं आये हैं, इस कारण शरीर को रोग-रहित उसी प्रकार नहीं माना जा सकता, जिस प्रकार हमला न करनेवाले-चुपचाप बैठे रहनेवाले, बल्कि अधीनता स्वीकार करनेवाले—शत्रुओं के भी रहते कोई आदमी शत्रु-रहित नहीं कहा जा सकता। शत्रु-रहित तो वही कहा जावेगा, जिसका गुप्त या प्रकट, प्रत्यक्ष या परोक्ष, बलवान या निर्बल—कैसा भी—शत्रु नहीं है। इसी प्रकार जबतक शरीर में रोग गुप्त भी हैं, तबतक शरीर, रोग-रहित नहीं है और जो शरीर स्वयं ही रोग-ग्रस्त है, स्वयं ही अनाथ है, वह आत्मा की अनाथता कैसे मिटा सकता है? और आत्मा भी जब रोगों से शरीर की रक्षा नहीं कर सकता, तब वह भी शरीर का नाथ कैसे हो सकता है ?

मुनि की दृष्टि में, औषध मन्त्र आदि जानने और उनके द्वारा दूसरे का रोग मिटाने की चेष्टा करनेवाले—या रोग मिटाने वाले वैद्य भी अनाथ हैं। क्योंकि ऐसे लोगों को स्वयं को भी रोगों का भय है। उनके शरीर में भी रोग होते है, तथा जिन उपचारों द्वारा वे लोग दूसरे को रोग मुक्त करना चाहते हैं, उन उपचारों द्वारा वे स्वयं का रोग मिटाने में प्रायः असमर्थ रहते हैं। इस प्रकार से वैद्य, स्वयं भी अनाथ हैं और जिन औषध मन्त्र आदि का उन्होंने आश्रय ले रखा है, वे औषध मन्त्र भी अनाथ हैं। यदि औषध मन्त्रादि अनाथ न होते, किन्तु सनाथ होते, तो जिन लोगों ने उनका आश्रय ले रखा है, वे लोग अनाथ कैसे रहते?

आत्मा, स्वयं अनाथ है, इससे अपने निकट-सम्बन्धी शरीर को भी रोगादि से बचाकर सनाथ नहीं बना सकता। इस पर भी, अपनी अनाथता का ध्यान न करके यह सनाथ होने के लिए वैद्यादि की शरण जाता है, लेकिन वैद्यादि स्वयम् भी अनाथ हैं, इससे वे औषधादि की शरण जाते हैं। इस प्रकार परम्परा पर ये सब अनाथ ही ठहरते हैं, और जो स्वयं की ही अनाथता नहीं मिटा सका है, वह दूसरे को सनाथ कैसे बना सकता है?

आत्मा का, शरीर में रहना, आत्मा की पहली कमजोरी है। शरीर में रहना, आत्मा की अनाथता का ही कारण है। फिर अपने आप को शरीर का नाथ मान कर भी, शरीर में रोग होने

देना, आत्मा की दूसरी कमजोरी है। पूर्ण बलवान—सनाथ-आत्मा, शरीर में रहता ही नहीं है, वह तो शारीरिक-बन्धन से मुक्त हो जाता है। ऐसे पूर्ण बलवान की अपेक्षा मध्यम दर्जे का बलवान आत्मा, शरीर में तो रहता है, लेकिन शरीर में रोग नहीं आने देता। रोग, निर्बल आत्मा के शरीर में ही होते हैं, और वह भी उसकी (आत्मा की) निर्बलता के कारण। आत्मा के लिए उचित तो यह है, कि जिस निर्बलता के कारण रोग आये हैं, उस निर्बलता को ही मिटा दे, लेकिन यह न करके वैद्यादि की शरण जाना, आत्मा की तीसरी कमजोरी है। रोग होने पर आत्मा, वैद्यादि की शरण में गया और औषधादि उपचार से रोग मिट भी गये, तब भी आत्मा की कमजोरी में वृद्धि हो जाती है और आत्मा अधिक अनाथता में पड़ जाता है। क्योंकि फिर आत्मा यह समझने लगता है, कि मेरा अस्तित्व वैद्य औषधादि की कृपा से ही है। इस प्रकार आत्मा, स्वयं का बल खोता जाता है और वैद्य औषधादि के आश्रित होता जाता है। सारांश यह, कि वैद्य और औषधादि से चाहे रोग मिट भी जाते हों, लेकिन इससे आत्मा सनाथ नहीं होता, किन्तु आत्मा की अनाथता बढ़ती है। आत्मा की अनाथता मिट कर आत्मा सनाथ कैसे हो सकता है, यह बात इन्हीं मुनि ने आगे बतलाई है।

मुनि ने अवस्था, शरीर, वैद्य और औषध आदि की तरफ से तो आत्मा की अनाथता सिद्ध कर दी। अब वे कहते हैं—

राजा, यदि तू यह सोचता हो, कि वैद्यादि ने धन न मिलने के कारण अच्छी तरह उपचार न किया होगा, या धन व्यय न कर सकने के कारण, अच्छी-अच्छी औषधियाँ तथा पथ्य की वस्तुएँ प्राप्त न हो सकी होंगी, या आपके माता-पिता आदि की ओर से आपकी सुश्रूषा न हुई होगी, तो इसके लिए भी सुन—

पिया मे सव्व सारं पि दिज्जा हि मम कारणा ।
न य दुक्खाउ विमोयन्ति एसा मज्झ अणाहया ॥२४॥

भावार्थ—मेरे पिता, मेरे लिए—मेरे को कष्ट-मुक्त कराने के लिए घर का सर्वस्व देने को तैयार थे, फिर भी वे मेरे को दुःख मुक्त न करा सके। इस प्रकार मेरी अनाथता थी।

राजा, मैं यह पहले ही कह चुका हूँ, कि मेरे पिता बहुत बड़ी सम्पत्ति के स्वामी थे। बहुत-से पिता ऐसे भी होते हैं, कि जो सन्तान की अपेक्षा द्रव्य को अधिक समझते हैं, सन्तान को दुःखी एवं नष्ट होते देख सकते हैं, किन्तु धन व्यय होता नहीं देख सकते, लेकिन मेरे पिता ऐसे न थे। वे, सन्तान की अपेक्षा धन को तुच्छ समझते थे। मेरी रुग्णावस्था के समय, वे अधिक से अधिक यही कर सकते थे, कि अच्छे-अच्छे वैद्यों को बुलाकर उनसे मेरा उपचार करावें, मेरे उपचार में द्रव्य व्यय करें और मेरी परिचर्या का प्रबन्ध करें। मेरे पिता ने यह सब किया। उन्होंने बड़े-बड़े वैद्याचार्यों को बुलवाकर मेरा उपचार कराया, बहुमूल्य औषधियाँ दिलवाईं, मुझे अच्छा कर देने के बदले अपने

घर का सर्वस्व देने को तैयार थे, मेरी परिचर्या में भी किसी प्रकार की कमी नहीं रहने दी, फिर भी वे मेरा दुःख न मिटा सके। राजा ! ऐसी दशा में, मैं पिता और धन की ओर से भी सनाथ कैसे रहा ? इसी प्रकार मेरी ओर से पिता भी कैसे सनाथ रहे ? मेरी ओर से पिता तभी सनाथ हो सकते थे, जब मेरे द्वारा उन्हें सुख प्राप्त होता और पुत्र के कर्त्तव्यानुसार मैं उनका दुःख मिटाता। लेकिन दुःख मिटाकर, सुख देने के स्थान पर मैं, पिता को अधिक दुःखी बना रहा था, उनकी चिन्ता बढ़ा रहा था, उनका धन व्यय करा रहा था और उनपर कार्य का बोझ डाल रहा था। जब जन्मदाता पिता भी मुझे सनाथ न कर सके, न मैं ही उन्हें सनाथ बना सका, तब तू मेरा नाथ बनकर मुझे सनाथ कैसे कर सकेगा, इसे विचार !

मुनि की बात सुनकर, राजा श्रेणिक विचारता है, कि वास्तव में यह बात तो ठीक ही है। मैं, अपने पुत्रों पर अभिमान करता हूँ, परन्तु ऐसी परिस्थिति उत्पन्न होने पर, मैं पुत्रों की तथा पुत्र मेरी रक्षा करने में कैसे समर्थ हो सकते हैं ? कदाचित् बाह्य शत्रुओं का आक्रमण होने पर तो मैं उनकी और वे मेरी रक्षा करने की चेष्टा कर भी सकते हैं, लेकिन मुनि के शरीर में जिस प्रकार रोग-शत्रु आक्रमण करते थे, उसी प्रकार मेरे या पुत्रों के शरीर में आघात करें, तो मैं या पुत्र दोनों क्या कर सकते हैं ? अधिक-से-अधिक, वैद्यादि द्वारा उपचार करा सकते हैं, लेकिन उपचारों से लाभ न होने पर क्या किया जा

सकता है ! और जब मैं पुत्रों का, तथा पुत्र मेरा दुःख दूर नहीं कर सकते—सुखी नहीं बना सकते—तब पुत्रों की तरफ से मैं और मेरी तरफ से पुत्र, सनाथ कैसे रहे ? इसी प्रकार मैं अपने द्रव्य पर अभिमान करता हूँ, द्रव्य के कारण अपने आपको सनाथ मानता हूँ; लेकिन ऐसे समय में, द्रव्य भी तो रक्षा नहीं कर सकता ! यदि द्रव्य ऐसे समय में रक्षा कर सकता होता, तो इन मुनि के लिये इतना द्रव्य व्यय किया गया, फिर भी ये सुखी क्यों न हुए ! मुनि का मुझे अनाथ कहना, ठीक ही है। सचमुच मैं अनाथ हूँ, तथा जब मैं स्वयं भी सनाथ नहीं हूँ, तब इन मुनि का नाथ कैसे हो सकता हूँ ?

मुनि ने, अवस्था, शरीर, वैद्य, औषधादि, पिता और द्रव्य की ओर से अनाथता सिद्ध करके राजा को यह बतला दिया, कि इनकी ओर से तू भी अनाथ है। अब वे कहते हैं—राजा, तू कभी यह कहे, कि पिता की अपेक्षा माता का पुत्र पर अधिक स्नेह होता है, वह पुत्र की अधिक परिचर्या कर सकती है, आपके माता न होगी, इसलिए आप रोग-मुक्त न हुए होंगे। लेकिन राजा, मेरे माता भी थी। कई पुत्रों की माताएँ, पुत्र को बालक छोड़ कर ही मर जाती हैं, लेकिन मेरी माता जीवित थीं और—

माया मे महाराय पुत्त सोग दुहट्टिया ।
न य दुक्खाउ विमोयन्ति ऐसा मज्झ अणाहया ॥२५॥

भावार्थ—हे महाराजा, मेरी माता, मेरे दुःख से दुःखी रहा करती थी, फिर भी वह मुझे दुःख से न छुड़ा सकी। ऐसी मेरी अनाथता थी।

मुनि कहते हैं—राजा, कई लोगों की माताएँ, अपने पुत्र से प्रेम नहीं करती हैं, कई की माताएँ ऐसी निठुर भी होती हैं कि अपने पुत्र को मार तक डालती हैं, लेकिन मेरी माता ऐसी न थी। मेरी माता, मुझ पर बहुत कृपा रखती थी, मुझ पर सदा दया किया करती थी, और मुझे दुःख में देख कर दुःखी रहती थी। वह, दिन-रात मेरी चिन्ता करती, मेरी परिचर्या करती, मेरा दुःख मिटाने के लिए—मुझे सुखी बनाने के लिए—प्रत्येक सम्भव उपाय काम में लाती, लेकिन फिर भी वह मेरा दुःख न मिटा सकी। माता की दया, माता की कृपा, माता की परिचर्या और माता का मेरे लिए दुःख करना मेरे किसी काम न आया। बल्कि, माता को दुःखी देख कर मैं और दुःखी होता था। मैं सोचता था कि माता को दुःखी बनाने का कारण, मैं ही हूँ। इस प्रकार माता का दुःख करना, मेरे लिए दुःखवर्द्धक तो हुआ, लेकिन मुझे दुःख-मुक्त न कर सका। मेरे शरीर में जो वेदना हो रही थी, उसे माता किसी भी प्रकार न मिटा सकी। यदि कोई बाह्य शत्रु मेरे शरीर पर आघात करता होता, तो मेरी माता, अपने प्राण देकर भी उस शत्रु से मेरी रक्षा करती, शत्रु के आघातों को अपने ऊपर सहती, लेकिन मेरे शरीर ही में छिपे

हुए शत्रु के आघातों से वह मेरी रक्षा न कर सकी। इस प्रकार मैं, माता की ओर से अनाथ था।

राजा, माता की ओर से मैं ही अनाथ न था, किन्तु मेरी ओर से माता भी अनाथा ही थी। पुत्र का कर्त्तव्य है, कि वह माता को सुखी बनावे तथा उसके दुःख दूर करे। मेरी माता, सब प्रकार से सुखी थी। उसके पुत्र थे, पुत्रवधू थीं, सब उसकी आज्ञा मानते थे और पिता भी उस पर प्रसन्न रहते थे। घर में भी, किसी प्रकार की कमी न थी। फिर भी मेरी वेदना के कारण माता दुःखी हो रही थी। मैं, उसके सुख-चन्द्र को ग्रसने वाला राहु बना हुआ था। उसे सुख पहुंचाना तो दूर रहा, किन्तु अपनी वेदना से मैं उसे और दुःखी बना रहा था। मेरे कारण उसका सारा सुखमय संसार, दुःखमय बन गया था। वह मृत्यु के दुःख से भी अधिक दुःख अनुभव कर रही थी।

अब मुनि, राजा श्रेणिक को यह बता रहे हैं, कि मेरे पुण्य से मुझे भाई भी मिले थे। संसार में, और सब का मिलना इतना कठिन नहीं है, जितना कठिन भाई का मिलना है। हाँ, जो लोग धन-वैभव को ही अधिक समझते हैं, उनकी दृष्टि में तो भाई, असमान वैरी है। वे समझते हैं, कि भाई ने माता के पेट में आकर, मुझे माता के दूध से वंचित कर दिया, जन्म लेकर माता-पिता के स्नेह में हिस्सा करा लिया और बड़ा होकर धन बँटवा लिया! इस प्रकार के लोग, भाई को वैरी मानते हैं; परन्तु

ऐसे लोगों की भी कमी नहीं है, जो भाई को सर्वोत्कृष्ट मानते हों, तथा यह समझते हों कि संसार में और सब का मिलना तो सरल है, लेकिन भाई का मिलना बहुत कठिन है। तुलसीदासजी ने, रामायण में, लक्ष्मण के मूर्छित होने पर, राम से विलाप कराते हुए कहलवाया है—

मात पिता जग होतई जाता। मिलइ न जगत सहोदर भ्राता॥

लङ्काकांढ

अर्थात्—संसार में माता-पिता तो पुनः पुनः होते ही हैं, लेकिन सहोदर (सगा) भाई नहीं मिलता।

मुनि कहते हैं—

भायरो मे महाराय सगा जिट्ठकणिट्ठगा।
न य दुक्खा विमोयन्ति ऐसा मज्झ अणाहया॥२६॥

भावार्थ—हे महाराज, मेरे सहोदर छोटे और बड़े भाई भी मुझे दुःख से न छुड़ा सके। ऐसी मेरी अनाथता थी।

हे राजा, संसार में भाई के समान कोई सहायक नहीं माना जाता इसलिए तू यह कह सकता है कि आपके भाई न होंगे, अतः आपकी सहायता कौन करे? लेकिन राजा, सुन! मेरे भाई भी थे, और नाते रिश्ते के नहीं, किन्तु सहोदर (सगे) भाई थे। मेरे से बड़े भाई भी थे, और मेरे से छोटे भाई भी थे। वे मेरे भाई लोभी न थे। यदि वे लोभी होते, तब तो

मेरे लिए पिता द्वारा व्यय होने वाले द्रव्य को, व्यय न होने देने की चेष्टा करते, किन्तु वे मुझे बहुत प्रेम करते थे। इस कारण मुझे दुःख-मुक्त करने के वास्ते चिन्तित रहते और पिता से कहा करते कि घर की सब सम्पत्ति देकर भी, भाई को रोग-मुक्त कराओ। हम सम्पत्ति तो और कमा लेंगे, लेकिन भाई और नहीं मिल सकता। राजा, मेरी परिचर्या के लिए वे सदा उद्यत रहते, मुझे दुःखी देखकर दुःख भी किया करते, फिर भी वे मुझे दुःख से न छुड़ा सके।

भाई की ओर की अनाथता बताकर, मुनि कहते हैं—

भइणीओ मे महाराय सगा जिट्ठकणिट्ठगा।
न य दुक्खा विमोयन्ति एसा मज्झ अणाहया ॥२६॥

भावार्थ—हे महाराजा, मेरी सहोदरा छोटी और बड़ी बहनें भी मेरा दुःख न मिटा सकीं। ऐसी मेरी अनाथता थी।

मुनि कहते हैं—राजा, मेरे बहनें भी थीं, और सहोदरा (सगी) तथा छोटी एवं बड़ी दोनों ही प्रकार की थीं। बहुतसी बहनें, अपने भाई से केवल तभी तक प्रेम करती हैं, जब तक भाई सुखी है और उसकी ओर से कुछ न कुछ प्राप्त होने की आशा रहती है। मेरी बहनें ऐसी न थीं। वे, मुझे बहुत प्यार करती थीं। मुझे प्राणों के समान प्रिय समझती थीं। मेरा दुःख देखकर वे बहुत व्याकुल रहा करतीं। दिन रात मेरी सेवासुश्रूषा में लगी रहतीं और मेरा दुःख मिटाने का उपाय

किया करतीं; लेकिन वे बहनें, मेरा दुःख न मिटा सकीं। इस प्रकार मैं बहनों की ओर से भी अनाथ था।

राजा श्रेणिक ने, अपनी सनाथता के कारण बताते हुए, मुनि से यह भी कहा था कि मेरे रानियाँ हैं। राजा की इस बात का उत्तर देने के लिए, मुनि कहते हैं—राजा, कदाचित तू यह कहे, कि स्त्री के समान दुःख में सहायता करनेवाला दूसरा कोई नहीं होता; आपके स्त्री न होगी, इसलिए आपको कष्ट सहने पड़े होंगे। लेकिन—

भारिया मे महाराय अणुरत्ता अणुव्वया।
असुपुण्णेहिं नयणेहिं उरं मे परिसिचई॥ २८॥

भावार्थ—हे महाराजा, मेरी पत्नी, पतिव्रता थी, और मेरे पर अनुरक्त थी। वह मेरे दुःख से इस प्रकार दुःखी थी, कि सदा रोया करती और मेरी छाती को, अपने आँसुओं से सींचा करती।

अन्नं पाणं च ण्हाणं च गंधमल्लविलेवणं।
मए णायमणायं वा सा बाला नोवभुंजइ॥ २९॥

भावार्थ—उस नवयौवना ने, मुझे कष्ट में देखकर, अन्न खाना, पानी पीना, केसर चन्दनादि सुगन्धित द्रव्य का लेपन, शृंगारादि धारण करना त्याग दिया। यह बात नहीं थी, कि कुलटाओं की तरह पति-भक्ति दिखाने के लिए वह इन वस्तुओं का उपभोग

मेरी जान में न करती हो और पीछे से करती हो; किन्तु न वह प्रकट में ही इनका उपभोग करती थी, न परोक्ष में ही।

खणं पि मे महाराय पासाओ मे न फिट्टई।
न य दुक्खा विमोयन्ति एसा मज्झ अणाहया ॥३०॥

भावार्थ—वह मेरी पत्नी, एक क्षण के लिए भी मेरे पास से दूर न जाती, फिर भी वह मुझे दुःख-मुक्त न कर सकी, ऐसी मेरी अनाथता थी।

इस कथन द्वारा मुनि; राजा श्रेणिक को यह बता रहे हैं, कि राजा, तू अपनी रानियों के भरोसे अपने आप को सनाथ समझ रहा है, लेकिन मेरी स्त्री ने मेरे लिए जो कुछ किया, उससे अधिक तेरी रानियाँ और क्या करेंगी? ऐसी स्त्री के होते हुए भी जब मैं अनाथ था तो रानियों के होने से तू सनाथ कैसे हो सकता है?

राजा, मेरी पत्नी की ओर से मैं तो अनाथ था ही, लेकिन मेरी पत्नी भी मेरी ओर से अनाथा ही थी। संसार-व्यावहार के नाते, मेरी स्त्री के प्रति मेरा यह कर्त्तव्य था, कि मैं उसे सुख देता, दुःखों से उसकी रक्षा करता, लेकिन मैं, इस कर्त्तव्य का पालन करने में असमर्थ रहने के साथ ही, अपने दुःख से अपनी स्त्री को भी दुःखी बना रहा था। इस प्रकार वह भी मेरी ओर से अनाथा ही थी।

मुनि की इस बात पर कि 'राजा, तू स्वयं भी अनाथ है !' राजा श्रेणिक को आश्चर्य हुआ था और उसने मुनि के कथन को झूठ बताते हुए कहा था कि मेरे हाथी, घोड़े, नौकर-चाकर नगर-ग्राम एवं रानियाँ आदि हैं, फिर मैं अनाथ कैसे हूँ ? उसके इस कथन पर से ही, मुनि ने अपनी अनाथता के वर्णन द्वारा राजा श्रेणिक को यह बताया, कि इसी प्रकार तू भी अनाथ है ! अपनी अनाथता के कारण बता कर, मुनि ने, राजा श्रेणिक को ही अनाथ सिद्ध नहीं किया, किन्तु उसे यह भी बता दिया, कि जिनके भरोसे तू अपने आपको सनाथ मान रहा है, वे स्वयं भी अनाथ हैं ! अर्थात् न तो तू ही सनाथ है, न जिनका तू नाथ बना हुआ है, वे ही। जो तेरे भरोसे अपने आपको सनाथ मान रहे हैं, वे भी उसी प्रकार अनाथ हैं, जिस प्रकार मेरे भरोसे अपने आपको सनाथ माननेवाले मेरे माता-पिता, बहिन, स्त्री और भाई अनाथ थे।

मुनि कहते हैं, राजा, जिस प्रकार तू मनुष्य-जन्म और युवावस्था को विशेषतः भोग के लिए मानता है, उसी प्रकार मैं भी मानता था। जिस प्रकार हाथी, घोड़े, धन आदि के होने से तू अपने आपको सनाथ मानता है, उसी प्रकार मैं भी अपने आपको सनाथ मानता था। लेकिन जब मेरे शरीर में वेदना हुई, तब इन सब की कसौटी हुई, और ये सब सनाथ करने वाले नहीं, किन्तु अनाथता बढ़ाने वाले ही ठहरे।

राजा, मेरी पीड़ा किसी भी तरह न मिटी, तब मैं विचारने लगा, कि जिनके कारण, मैं अपने आपको सनाथ समझ रहा हूँ, वे मुझे दुःख मुक्त क्यों नहीं कर पाते ? विचारते-विचारते मुझे मालूम हुआ, कि ये माता-पिता, भाई-बहिन, स्त्री और वैद्य आदि स्वयं ही अनाथ हैं, फिर ये मुझे सनाथ कैसे बना सकते हैं ! मैंने, अपने दुःख को इन सब पर घटा कर देखा, अपना-सा सम्बन्ध इन सब का भी देखा, तो मुझे मालूम हो गया, कि मेरी ही तरह ये लोग भी अनाथता बढ़ानेवाली वस्तु के अधीन पड़े हुए हैं।

माता-पिता आदि सम्बन्धी के वर्णन द्वारा, मुनि ने, अपने नीति-पूर्ण सामाजिक जीवन का भी परिचय दिया है। उन्होंने यह भी बतलाया है, कि मेरा सामाजिक जीवन किस प्रकार नीति-पूर्ण था। नीति के अनुसार, माता-पिता का पुत्र के प्रति, भाई का भाई के प्रति, बहन का भाई के प्रति और स्त्री का पति के प्रति क्या कर्त्तव्य होता है, मुनि ने इसका भी दिग्दर्शन कराया है।

आध्यात्मिक जीवन का मूल, नीति-पूर्ण सामाजिक जीवन है। यद्यपि आत्मा सुखी तो आध्यात्मिक जीवन से ही हो सकता है, लेकिन नीति-पूर्ण सामाजिक जीवन के अभाव में आध्यात्मिक जीवन के लिए क्षेत्र तैयार नहीं होता। यह बात दूसरी है, कि नीति-पूर्ण सामाजिक जीवन थोड़ी ही देर का हो, लेकिन आध्या-

त्मिक जीवन की उत्पत्ति के लिए उसका होना आवश्यक है। मुनि का सामाजिक-जीवन, नीति-पूर्ण था, इसीसे उनमें आध्यात्मिक जीवन उत्पन्न होने में देर न लगी।

मुनि का कथन सुन कर राजा श्रेणिक उनसे कहने लगा—हे आर्य, हे संयति, आपके वचनों ने मेरे हृदय का यह गर्व मिटा दिया, कि मैं सनाथ हूँ। अब मैं इस बात को भली भाँति समझ गया, कि मैं जिस सम्पदा पर से अपने आपको सनाथ मान रहा हूँ, वह सम्पदा सनाथ बनाने वाली नहीं, किन्तु अनाथता बढ़ाने वाली है। अब कृपा करके यह बतलाइये, कि आपकी जो वेदना इतने उपाय करने पर भी नहीं गई थी, वह वेदना गई कैसे और वास्तव में सनाथ होने का उपाय क्या है?

मुनि बोले—हे राजा, जब सारे उपाय हो जाने पर भी मेरे शरीर की वेदना न मिटी, तब मैं उसी वेदना में पड़ा-पड़ा अपने आप ही विचारने लगा, कि इतना उपचार होने पर भी मेरी पीड़ा क्यों नहीं मिटी? यदि यह पीड़ा भौतिक कारणों से है तो भौतिक उपाय से इसका शमन भी होना चाहिए! भौतिक उपायों में किसी प्रकार की कमी न रहने पर भी मेरे शरीर के रोग नहीं मिटे और मैं सुखी नहीं हुआ, इससे प्रकट है, कि यह वेदना भौतिक कारणों से नहीं, किन्तु आध्यात्मिक कारणों से है। इन रोगों के होने में मेरे पूर्व-संस्कारों का अवश्य ही सम्बन्ध है। मेरे साथ, पूर्व के कोई ऐसे संस्कार हैं, जिनके कारण मुझे ये रोग घेर रहे हैं।

मैंने अपने मन में यह निर्णय किया, कि ये रोग आध्यात्मिक कारणों से ही हुए हैं, बाह्य कारणों से नहीं हुए हैं। इस निर्णय पर पहुंचने के साथ ही, हृदय में ये प्रश्न होने लगे, कि यदि पूर्व-संस्कार के कारण ये रोग हुए हैं, तब क्या मैं पहले भी था। यदि मैं पहले न होता, तो ये पूर्व-संस्कार होते ही कैसे ? इसलिए निश्चय ही मैं पहले भी था। लेकिन यदि मैं पहले भी था, तो मुझे न मालूम ऐसे ही कितने दुःख सहने पड़े होंगे। इस प्रकार मेरे मन में अनेक प्रश्न होने लगे और मैं, अपने आप ही उनका समाधान करने लगा। अन्त में,

तओ हं एवमाहंसु, दुक्खमा हु पुणो पुणो।
वेयणा अणुभाविउं जे, संसारंमि अणन्तए ॥३१॥

भावार्थ—रोग न मिटने से, विचार करने पर मुझे विश्वास हुआ, कि इस अनन्त-संसार में भ्रमण करते हुए, मैंने इस प्रकार की वेदना बार-बार अनुभव की है।

राजा, इस प्रकार विश्वास होने पर, मैं यह सोचने लगा, कि संसार में भ्रमण करने और बार-बार ऐसे कष्ट अनुभव करने का कारण क्या है ? इस प्रश्न पर विचार करते हुए मैं इस सिद्धांत पर पहुंचा, कि मोह के वश होकर, आत्मा, सांसारिक पदार्थों द्वारा अपने आपको सनाथ बनाना चाहता है, लेकिन इन सांसारिक पदार्थों से, जैसे-जैसे सम्बन्ध बढ़ता जाता है, यह आत्मा, वैसे-ही-वैसे अनाथ होता जाता है और वह अनाथता ही संसार

में भ्रमण कराने एवं ऐसे या इससे भी अधिक—दुःख अनुभव करने का कारण है।

राजा, आत्मा की यह बहुत बड़ी गलती है, कि आत्मा, माता-पिता, भाई-बहन, स्त्री-पुत्र, धन-वैभव और वैद्य-दवा आदि पर विश्वास करके, उनके आश्रित रहने में स्वयं को सनाथ मानता है। इसी भूल के कारण, आत्मा, अनाथ है और संसार में परिभ्रमण एवं फिर फिर दुःख अनुभव कर रहा है। वास्तव में ये सब, आत्मा को सनाथ बनानेवाले नहीं हैं किन्तु अनाथ बनानेवाले हैं। चाहे आत्मा इनके अधीन रहे, इनको अपना नाथ माने, या इन्हें अपने अधीन रखे, आप इनका नाथ रहे, दोनों ही प्रकार की बातें अनाथता देनेवाली हैं। जिस प्रकार एक थम्बे को पकड़ने वाला आदमी, चाहे यह माने कि थम्बे ने मुझे पकड़ रखा है, या यह माने कि मैंने थम्बे को पकड़ रखा है, लेकिन जब तक वह थम्बे को न छोड़ दे, तब तक पराधीन ही है। इसी प्रकार चाहे सांसारिक पदार्थों का आप होकर रहे, या सांसारिक पदार्थों को अपना करके रखे, है दोनों ही तरह अनाथता!

राजा, इस निश्चय पर पहुंचने के पश्चात्, मैंने रोग-निवारण के लिए, भौतिक उपायों का करना त्याग दिया और यह सोचने लगा, कि आत्मा इस अनाथता से निकल कर सनाथ बने, इसका उपाय क्या है? क्योंकि अब मुझे विश्वास हो गया, कि ये रोग, अनाथता से ही हैं। विचारते-विचारते, मैं इस निर्णय पर

पहुंचा कि इन्द्रिय-लोलुपता और आरम्भ-समारम्भ को त्यागने एवं क्षमा, इन्द्रिय-निग्रह, निरारम्भता और निर्लोभता आदि को अपनाने की आवश्यकता है। जब तक ऐसा न किया जावे, तब तक अनाथता नहीं मिट सकती। इस निर्णय पर पहुंचते ही मैंने अपने मन में संकल्प किया कि—

सइं च जइ मुच्चेज्जा वेयणा विउला इतो।
खन्तो दन्तो निरारम्भो पव्वइए अणगारियं ॥३२॥

भावार्थ—यदि मैं एक बार इस महान् वेदना से मुक्त हो जाऊँ, तो क्षमावान्, इन्द्रियों का दमन करनेवाला, एवं निरारम्भी बनकर अणगार-धर्म स्वीकार करूँगा।

एवं च चिन्तइत्ताणं पसुत्तो मि नराहिवा।
परियत्तन्तीइ राईए वेयणा मे खयं गया ॥३३॥

भावार्थ—हे नराधिप, इस प्रकार चिन्तवन करते मुझे नींद आ गई, मैं सोगया। रात्रि के बीतने पर सवेरे मैंने देखा, कि मेरी शारीरिक वेदना क्षय हो गई है और मेरा शरीर वेदना-रहित हो गया है।

मुनि कह रहे हैं—राजा, अब तक मैं, मोह की नींद में पड़ा सो रहा था, इसलिए इन रोगों ने, मेरे यहाँ चोर की भाँति प्रवेश कर लिया था। रोग रूपी चोरों को, न मैं ही भगा सका था, न माता-पिता, वैद्य आदि ही। रोगों को मैं या वे भगा भी

कैसे सकते थे? क्योंकि, मैं और मेरे साथ ही वे सब भी, मोह की नींद में पड़े हुए थे। चोर घर में तभीतक रह सकते हैं, जबतक घर का स्वामी सोया हुआ हो। स्वामी के जागने पर चोरों का साहस ठहरने का नहीं हो सकता। मैं जब मोह की नींद से जागा तभी उन रोग रूपी चोरों को भगाने में समर्थ हो सका। मैंने मोह-निद्रा भंग करके, जैसे ही रोग रूपी चोरों से यह कहा कि तुम लोग मेरे यहाँ से भाग जाओ वैसे ही रोग रूपी चोर भाग गये। उनने समझ लिया कि अब गृह-स्वामी जाग गया है, इससे यहाँ रहने में कुशल नहीं। राजा, मोह-निद्रा दूर कर देने पर, रोगों के भगाने में मुझे, माता-पिता आदि किसी की भी सहायता न लेनी पड़ी। सहायता लेता भी तो किससे? माता-पिता आदि स्वयं ही मोह की नींद में जकड़े हुए थे। यद्यपि उन रोग रूपी चोरों को मैं अपने यहाँ पहले भी नहीं रहने देना चाहता था, लेकिन पहले मैं, मोह की नींद से बेसुध था और साथ ही अनाथ भी था। सोये हुए अशक्त का भय कौन करता है। इसलिए मेरी इच्छा न होने पर भी वे रोग रूपी चोर मेरे शरीर रूपी घर में घुसे रहे। मैं, मोह-निद्रा से जागकर भी यदि अशक्त ही बना रहता, अपने आपको सशक्त न बनाता, तो वे रोग रूपी चोर न भागते। क्योंकि, जागते हुए अशक्त की बात कौन मानता है! लेकिन मैंने जागने के साथ ही, अपने आपको सशक्त बना लिया और अपनी शक्ति का प्रदर्शन करते हुए—यानि यह कहते हुए, कि मैं क्षमावान, इन्द्रियों का

दमन करनेवाला एवं निरारम्भी बनकर अनगार (संयति) होऊंगा—मैंने, रोग रूपी चोरों को डाटा। डाटते ही वे भाग गये।

राजा! वेदना के मारे मुझे बहुत दिनों से नींद नहीं आई थी, लेकिन मैंने जैसे ही यह सङ्कल्प किया कि वेदना मिट जाने पर मैं अनगार होऊँगा' वैसे ही मुझे नींद आगई। मुझे नींद आई जानकर, मेरे माता-पिता आदि को बहुत प्रसन्नता हुई जिस रोगी को नींद नहीं आती उसका रोग, असाध्य माना जाता है। मुझे नींद नहीं आती थी इसलिए मेरे घरवाले मेरा रोग असाध्य मानकर दुःखी हो रहे थे, लेकिन मुझे नींद आ जाने से मेरे घरवाले बहुत प्रसन्न हुए। वे, यह समझने लगे कि अब हमारा पुत्र, भाई या पति स्वस्थ हो जावेगा। उस समय मेरे घर के लोगों को कैसा हर्ष हुआ होगा, यह मैं नहीं बता सकता। मेरे घर के लोग मुझे नींद में सोया हुआ जान रहे थे, लेकिन राजा, मेरी यह नींद, दूसरी ही तरह की थी। वे सब लोग, मुझे सोया हुआ और अपने आपको जागता हुआ समझ रहे थे, लेकिन मेरी समझ से मैं जाग रहा था, और वे सब लोग सो रहे थे।

अपने सोने और घर के लोगों के जागने में, मुनि जो अन्तर बता रहे हैं, वह, गीता के निम्न कथन के अनुसार है—

या निशा सर्व भूतानां तस्यां जाग्रति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥

अध्याय २

अर्थात्—सब लोग जिसे रात समझते हैं, उसमें संयमी पुरुष जागता रहता है और जिसमें सारा संसार जागता है, उसे तत्वज्ञानी मुनि, रात समझते हैं। मतलब यह कि संसार में लिपटे हुए लोग, जिसे सच्चा समझते हैं, ज्ञानी लोग उसे झूटा समझते हैं और जो तत्व की बात, संसार में लिपटे हुए लोगों से छिपी हुई है, उसे ज्ञानी लोग साफ देखते हैं।

मुनि भी यही बात कह रहे हैं। वे कहते हैं, कि राजा, घर के लोग मुझे सोता और अपने आप को जागता समझ रहे थे, लेकिन वास्तव में, मैं जाग रहा था और वे लोग सो रहे थे, अर्थात् जिसे वे सनाथता समझते थे, उसे मैं, अनाथता मानने लगा था, और जिसे मैं सनाथता मानने लगा था, उसे वे लोग, तेरी ही तरह अनाथता मान रहे थे। तू भी तो अपने आपको सनाथ मान कर, मेरा नाथ बनने को तैयार हुआ है, लेकिन वास्तव में, तू भी अनाथ ही है, सनाथ नहीं है। तेरी दृष्टि में, हम (साधु) सोये हुए हैं और तू जाग रहा है, लेकिन वास्तव में, हम जाग रहे हैं और तू सोया हुआ है।

राजा, रात्रि व्यतीत होने पर, यानी सूर्योदय होने पर, मैंने देखा, कि मेरा शरीर तो वही है, लेकिन उसमें किंचित भी वेदना नहीं है। यह देखकर, मुझे इस बात पर विश्वास हो गया, कि रोगों को, मैंने ही ठहरा रक्खा था, इसीसे ठहरे थे। अब मुझे पिता, माता, बहन, भाई, स्त्री, धन, वैद्यादि और औष-

धादि से सनाथ बनने की अपनी भूल भी समझ में आगई। मुझे, इस बात पर पूर्णतः विश्वास हो गया, कि सर्वारम्भ को त्यागने, इन्द्रियों का दमन करने और क्षमा को अपना कर अनगार धर्म में प्रव्रजित होने पर ही, सनाथ हो सकता है, तथा प्रत्येक दुःख, अनाथ को ही सताते हैं, सनाथ को नहीं सताते। शक्ति-सम्पन्न से, रोगादि प्रत्येक दुःख भय खाते रहते हैं।

यहां प्रश्न होता है, कि जब सनाथी मुनि का रोग, संयम का चिन्तवन करने मात्र से ही चला गया, तब फिर संयमी लोगों को कष्ट क्यों भोगने पड़े? उदाहरण के लिए, मुनि श्री गज-सुकुमारजी का आग से जलना।

इस प्रश्न का उत्तर यही है कि जिसे संसार के लोग रात समझते हैं, वह ज्ञानियों के लिए दिन है और जिसे संसार के लोग दिन समझते हैं, ज्ञानियों के लिए वह रात है। इसके अनुसार संसार के लोग, मुनि श्री गजसुकुमारजी का आग से जलना मानते हैं, उनके लिए कष्ट समझते हैं, लेकिन गजसुकुमार मुनि, इसे कष्ट नहीं समझते थे, किन्तु सुख समझते थे और सिर पर आग रखनेवाले को, लक्ष्य पर पहुंचानेवाला सहायक मानते थे। उन्हें तो, शरीर को शीघ्र से शीघ्र त्यागना ही अभीष्ट था। यदि उनकी यह इच्छा न होती, तो वे श्मशान में ही क्यों जाते और अपने सिर पर अग्नि रखने ही क्यों देते? अग्नि रखी जा चुकने पर भी, यदि वे उस अग्नि से कष्ट अनुभव

करते होते, तो, इच्छा करने मात्र से ही अग्नि को शीतल कर सकते थे। उनमें ऐसी शक्ति थी, कि चाहने पर अग्नि शीतल हो ही जावे। इस शक्ति के होते हुए भी, उन्होंने अग्नि को शीतल करने की इच्छा नहीं की, इसका कारण यही है कि वे उस अग्नि से, दु-ख अनुभव नहीं करते थे, किन्तु यह विचार कर सुख मान रहे थे, कि मैं अपने ध्येय के समीप शीघ्र पहुंच रहा हूँ। इस प्रकार, जब अग्नि से जलनेवाले मुनि ही जलने में दुःख नहीं मानते थे, तब फिर यह कैसे कहा जा सकता है, कि संयमी गजसुकुमार मुनि को कष्ट हुए। संयमी को, किसी प्रकार का कष्ट तो होता ही नहीं। संयम स्वीकार करनेवाला, कष्टों को जीत लेता है। वह अपने लिए कष्टों का अस्तित्व पहले ही मिटा देता है तब संयम लेता है।

सनाथी मुनि का रोग, संयम की उच्च भावना से मिटा, मन्त्र औषध आदि से नहीं मिटा, न माता-पिता आदि की सेवा सुश्रूषा से ही कोई लाभ हुआ; यह बात ठीक है, लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है, कि औषध आदि से रोग मिटते ही नहीं, या वैद्य, रोगों को मिटा ही नहीं सकता, इस कारण माता-पिता वैद्यादि को रुग्ण की परिचर्या करने की ही आवश्यकता नहीं है ! यदि औषधादि से रोग मिटते ही न होते; वैद्य रोगी को स्वस्थ कर ही न सकता होता; या माता, पिता, भाई, बहन, स्त्री आदि की परिचर्या से लाभ ही नहीं होता, तो न तो कोई किसी का उपचार ही करता, न किसी परिचर्या ही। लाभ इनसे भी होता है,

इनसे भी रोग मिटते हैं, लेकिन इन उपायों से रोग मिट ही जाते हैं, यह निश्चित बात नहीं है। इनसे किसी को लाभ होता भी है, और किसी को लाभ नहीं भी होता। इसके सिवा, इस प्रकार से मिटे हुए रोग, सदा के लिए मिट गये, यह भी नहीं कहा जा सकता; न शारीरिक रोग मिट जाने के कारण, आत्मा सनाथ ही बन जाता है। संयम की उच्च भावना से जानेवाले रोग निश्चित रूप से चले जाते हैं और आत्मा भी अनाथता से निकलकर सनाथ बन जाता है। तात्पर्य यह, कि औषध परिचर्या आदि से लाभ न होने के कारण, किसी की औषध परिचर्या करनी ही न चाहिए, यह समझना गलती है। चाहे रोग जावे या न जावे, कष्ट में पड़े हुए को लाभ हो या न हो, लेकिन जो आदमी, रोगी या कष्ट में पड़े हुए की औषध एवं सेवा सहायता करता है, उसे तो अनुकम्पा का लाभ होता ही है।

औषधादि द्वारा, तथा संयम की उच्च भावना द्वारा, रोग जाने में जो प्रधान अन्तर है, वह आत्मा की अनाथता एवं सनाथता का है। यानी, एक से आत्मा अधिक अनाथ होता है, और दूसरे से सनाथ होता है। बल्कि मन्त्र के द्वारा निरोग बने हुए का आत्मा, औषध द्वारा निरोग बने हुए के आत्मा की अपेक्षा अधिक पराधीन हो जाता है। क्योंकि औषध पर चाहे विश्वास किया जावे या न किया जावे, प्रयोग में आई हुई औषध कभी कभी अपना अच्छा या बुरा प्रभाव दिखाती ही है, लेकिन यन्त्र-मन्त्र का प्रभाव तो तभी हो सकेगा, जब उन पर

पूर्णतः विश्वास किया जावे। उदाहरण के लिए—मेस्मरेज़िम का प्रभाव, उस भोलेभाले आदमी पर ही अधिक पड़ता है, जिसमें अन्ध-विश्वास की मात्रा अधिक है। जिसे मेस्मरेज़िम पर विश्वास नहीं है, जो यन्त्र-मन्त्र को नही मानता, उस पर मेस्मरेज़िम का वैसा प्रभाव नहीं पड़ता, जैसा प्रभाव उस विश्वास करनेवाले पर पड़ता है। इस प्रकार, औषध की अपेक्षा यन्त्र-मंत्र से निरोग होनेवाले को आत्म-विश्वास बिलकुल ही खो देना पड़ता है। संयम की उच्च भावना से रोग जाने में, यह बात नहीं है। उसमें आत्मा, पराधीन नहीं होता, किन्तु स्वाधीन होता है। इस प्रकार से रोग जाने में, आत्म-विश्वास बढ़ता है, घटता नहीं है। उच्च भावना से गया हुआ रोग, कदाचित फिर कभी आ भी गया, तो आत्म-विश्वास के कारण, आत्मा की भावना और उच्च होगी, और इस प्रकार आत्म-विश्वास बढ़ेहीगा।

सनाथी मुनि कहते हैं—राजा, वैद्य, एवं औषधादि से मेरा रोग नहीं गया, यह अच्छा ही हुआ। यदि इनके द्वारा मेरा रोग चला जाता, तो मैं अनाथता में अधिक फँस जाता। अनाथता से निकल न पाता। मेरे में, आत्म-विश्वास उत्पन्न न होता, किन्तु वैद्य औषध आदि पर ही विश्वास करने लगता और इस प्रकार अपनी परतन्त्रता को और बढ़ा लेता। यद्यपि मेरा उपचार एवं मेरी परिचर्या करनेवालों—मेरे दुःख से दुःखी रहनेवालों—की भावना उपकार की ही थी, वे तो अपनी ओर से, मुझ

पर दया ही करते थे, और अज्ञान होने तक उनकी वह दया मुझे सुखप्रद भी मालूम होती थी, लेकिन अब ज्ञान होने पर, मैं संसार को बंधनकारक समझने लगा हूँ, और मुझे उनकी दया, मेरी परतन्त्रता बढ़ानेवाली दिखती है।

राजा, मेरे शरीर में रोग आये, यह भी अच्छा ही हुआ। यदि मेरा शरीर, रोगी न हुआ होता किन्तु स्वस्थ होता, तो मैं अनाथ ही बना रहता, सनाथ न हो पाता। उन रोगों ने, मुझ में सनाथ बनने की भावना उत्पन्न कर दी, इसलिए मैं, उन रोगों को मित्र मानता हूँ। अब भी यदि मुझे कोई रोग हो, तो उस रोग को मैं दुखःदाता नहीं मानूँगा, किन्तु सुखदाता मानूँगा और समझूँगा, कि मेरे में किसी प्रकार की कमी आई है, मेरी उच्च भावना में कोई न्यूनता हो गई है, इसीलिए यह मेरा पूर्व-परिचित मित्र मुझे सावधान करने के लिए आया है।

राजा, सबेरे मुझे वेदना-रहित देखकर मेरे भाई, बहन, माता पिता, स्त्री आदि को बहुत प्रसन्नता हुई। मुझे जागा हुआ जानकर, सब लोग मेरे पास आये। उस समय वे सब बहुत ही हर्षित थे। सब कहते थे कि हमारे पुण्य अच्छे हैं, जिससे हमारा पुत्र, भाई, या पति अच्छा हो गया। सब लोग अपने अपने भाग्य की बड़ाई करने लगे और मुझसे पूछने लगे कि तुम्हारे शरीर की वेदना, एक दम से कैसे चली गई? अब तो शरीर में वेदना नहीं है? आदि। मैंने उनसे कहा, कि अब मैं

अच्छा हो गया। अब मेरे शरीर में, तनिक भी वेदना नहीं है। वे सब कहने लगे कि तुम्हारे अच्छे हो जाने से हमें जो प्रसन्नता है वह प्रसन्नता, त्रैलोक की सम्पत्ति मिलने पर भी नहीं हो सकती। अब यह बताओ, कि जो वेदना इतने इतने उपाय करने पर भी नहीं गई थी, वह वेदना आज आप ही आप मिट गई या किसी कारण विशेष से चली गई ? मैं उनसे कहने लगा, कि इतने उपचार करने पर भी जो वेदना नहीं गई थी, जिस वेदना के न मिटने के कारण, मैं आपको और आप मुझे सुखी न कर सके थे, उस वेदना को मिटाने के लिए, मैंने एक शक्ति का स्मरण किया। उस शक्ति का स्मरण करते ही मुझे, बहुत दिनों से उड़ी हुई नींद आ गई और मैं सो गया। इस समय जाग कर मैं, शरीर को रोग-रहित-स्वस्थ-देखता हूँ। यह सब, उस शक्ति के स्मरण एवं उसकी कृपा का प्रताप है।

मेरी बात सुन कर, मेरे घर के सब लोग, हर्ष सहित, उस शक्ति की बड़ाई करने लगे और कहने लगे, कि वह शक्ति कहाँ रहती है और कौन है ? जिसने ऐसे समय में, तुम्हारी और हम सब की इस प्रकार सहायता की ! हम उस शक्ति को कोटि-कोटि नमस्कार करते हैं और उसे धन्यवाद देते हैं।

राजा, उन सब के प्रश्न के उत्तर में, मैंने कहा कि वह शक्ति और कहीं नहीं रहती है, किन्तु हृदय में ही रहती है। मैं, उस शक्ति को भूला हुआ था, इसीसे इतने कष्ट उठा रहा था। कष्टों से मुक्त होने के समस्त उपाय असफल होने पर, मैंने उस शक्ति

का स्मरण करके उससे कहा, कि यदि एक बार मैं कष्ट-मुक्त हो जाऊँ तो तेरी शरण आऊँगा। ऐसा कहते ही, मुझे नींद आगई, मेरी वेदना कम हो गई और इस समय मैं अपने आपको रोग-रहित-स्वस्थ देख रहा हूँ।

मेरी इस बात को सुन कर उन लोगों का कौतूहल बढ़ गया अब वे, उस शक्ति का नाम जानने के लिए, अधिक उत्सुक थे। उनकी उत्सुकता देखकर, मैंने कहा, कि भेदों से तो उस शक्ति के क्षमा, सत्य; अहिंसा, आदि कई नाम हैं, लेकिन समुच्चय में वह संयम की शक्ति है। संयम की शक्ति से ही, मैं रोग-मुक्त हुआ हूँ। अब मैं, उस संयम की शक्ति से की हुई अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार, उसकी शरण जाना चाहता हूँ, इसलिए आप सब लोग स्वीकृति दीजिये।

'यमो परम्' धातु से, 'संयम' शब्द की उत्पत्ति है। इसका अर्थ है, समस्त विकारों से दूर रहना।

मेरे इस कथन को सुनकर, मेरे घरवालों को मेरे वियोग का स्वाभाविक दुःख हुआ। सब लोग, आपस में एक दूसरे की ओर देखने और अपनी अपनी आँखों से, आँसू टपकाने लगे। मैं उन्हें बहुत प्रिय था, इसीलिए उन्हें मेरी यह बात सुनकर दुःख हुआ। उन लोगों को दुःखी देखकर, मैंने उनसे कहा, कि आप लोग दुःखी क्यों होते हैं? मैं, जो वेदना अनुभव कर रहा था, उसी वेदना में यदि मेरी मृत्यु हो गई होती, तब तो

आप लोगों को धैर्य रखना पड़ता या नहीं ? फिर जिस संयम की शक्ति की कृपा से मैं अच्छा हुआ हूँ, उसकी शरण जाने के समय, आप लोग धैर्य रखकर मुझे स्वीकृति क्यों नहीं देते ? यदि उस शक्ति की कृपा न होती, तो मैं वेदना से मुक्त हो पाता ? इन बातों पर विचार करके, आप लोग प्रसन्नता-पूर्वक मुझे संयम की शरण जाने के लिए स्वीकृति दे दीजिए। इस प्रकार, मेरे बहुत समझाने बुझाने पर, मेरे घर के लोगों ने, मुझे संयम लेने के लिए स्वीकृति दी।

तओ कल्ले पभायम्मि आपुच्छित्ताण बन्धवे ।
खन्तो दन्तो निरारम्भो पव्वइओ अणगारियं ॥३४॥

भावार्थ—सवेरे वेदना मिटने पर मैंने अपने बान्धवों से स्वीकृति ली, और क्षमावान्, इन्द्रिय-निरोधी, एवं निरारम्भी बनकर, अनगार-धर्म स्वीकार कर लिया।

तओ हं णाहो जाओ अप्पणो य परस्स य ।
सव्वेसिं चेव भूयाण तसाणं थावराण य ॥३५॥

भावार्थ—संयम लेकर, मैं, अपना स्वयं का, तथा दूसरे सब त्रस एवं स्थावर जीवों का नाथ बन गया।

सनाथी मुनि कहते हैं—राजा, अब मुझे किसी भी प्रकार के रोग शोक का भय नहीं है। अब मैं सनाथ हूँ, इसलिए किसी प्रकार का दुःख मेरे समीप भी नहीं आ सकता। यदि कभी कोई

रोग-दुःख आया भी, तो उसे मैं अपने आप ही मिटाने में समर्थ हूँ। उनसे घबरा कर, किसी दूसरे की शरण जाने की, आवश्यकता न पड़ेगी। मेरी जीवन-गाथा सुनकर, तू समझ गया होगा, कि मैं कैसे अनाथ था और अब किस प्रकार सनाथ हूँ। मेरे कथन पर से, तू अपने आप के लिए भी विचार ले, कि तू सनाथ है या अनाथ, और मेरा नाथ बनने को समर्थ है, या नहीं!

राजा, तेरे को यह तो मालूम हो ही गया होगा, कि जब तक कोई किसी दूसरे जीव या पदार्थ पर अपना आधिपत्य रखता है, आप शासक और उन्हें शासित मानता है तब तक वह, अपना स्वयं का भी नाथ नहीं है, और दूसरे का भी नाथ नहीं है। जो, दूसरे को अपने अधीन रखना चाहता है, वह स्वयं भी दूसरे के अधीन हो जाता है, यह तो अटल सिद्धांत है। इसी प्रकार, जो दूसरे शासक के अधीन है तो अनाथ है ही! सनाथ तभी हो सकता है, जब आप स्वयं भी दूसरे के अधीन न रहे, और न किसी दूसरे को ही अपने अधीन रखे। इस प्रकार सनाथ बननेवाला, अपने आपका ही नाथ नहीं रहता है, किन्तु प्राणिमात्र का नाथ बन जाता है। तू, यह मत समझ, कि फिर तो प्राणिमात्र पर अपना आधिपत्य हुआ! इस प्रकार से प्राणिमात्र का नाथ बनने में, आधिपत्य या अधीनता को तो स्थान ही नहीं है। इसमें तो केवल मित्रता को ही स्थान है। संयम का अर्थ ही, विकारों से दूर रहना है। जब संयम स्वीकार लिया, तब, छोटे-बड़े, शासक-शासित या अधिपति अधीन आदि विचार

रहा ही कहाँ ? फिर तो, मैत्री-भावना ही विकसित होती है। स्वयं अपना नाथ बना हुआ व्यक्ति, प्राणिमात्र का नाथ, मित्रता के बलपर बनता है। साम, दाम दण्ड और भेद आदि सांसारिक नीति के बल पर नहीं। यदि तू मेरा नाथ बनने का इच्छुक है, तो अपने अधीनस्थ लोगों पर से अपना आधिपत्य उठाले, भौतिक पदार्थों पर विश्वास करना छोड़ दे और अपने आप पर विश्वास कर। बस, फिर तू केवल मेरा ही नहीं, किन्तु प्राणिमात्र का नाथ बन जावेगा।

राजा, तू अपने आपको, हाथी घोड़े आदि के होने से सनाथ मानता है लेकिन तूने, हाथी घोड़े क्यों रख छोड़े हैं ? तू इस विषय में भली प्रकार और एक एक पर अलग अलग विचार कर। यदि तू पैदल चल सकता होता तो घोड़े क्यों रखता ? पैदल नहीं चल सकता, इसी कारण घोड़े रखे हैं न ? तेरे से जो काम नही हो सका, जिसके करने की तेरे में शक्ति नहीं थी, वह काम करने के लिए ही तूने घोड़े रखे हैं न ? फिर इसमें विशेषता की बात कौन सी रही ? यह तो और कमजोरी हुई ! यदि घोड़े, तेरे को उठा कर चलने से इनकार करदें, तो तू कैसे चलेगा ? घोड़ों ने, तुझ कमजोर पर कृपा की है, तेरी सहायता की है, जो तेरा वजन उठाकर चल रहे हैं। ऐसी दशा में तू उन घोड़ों का नाथ कैसे रहा ? हाँ, लोकोक्ति से, वे घोड़े, तेरे नाथ तो ही भी सकते हैं; क्योंकि, तुझ अशक्त को सहायता देते हैं !

राजा, घोड़ों की ही तरह हाथी के लिए समझ। जब तेरा काम घोड़ों से नहीं चला तब तू हाथी की शरण गया, यानी हाथी रखने लगा। जो काम हाथी करता है वह काम करने की शक्ति यदि तेरे में ही होती, तो तू उसकी सहायता क्यों लेता ? यही बात, पैदल, दास-दासी आदि के लिए भी समझ ले। अब यदि मेरी ही तरह तुझे सनाथ बनना है, तो संसार की समस्त वस्तुओं पर से अपना अधिकार उठाकर, इस संयम रूपी शक्ति की शरण आ जा, फिर तू अपना भी नाथ बन जावेगा और मेरा तथा प्राणिमात्र का नाथ बन जावेगा। यदि, तू एक दम से ऐसा नहीं कर सकता, तो धीरे धीरे कर। अनाथता देनेवाली वस्तुओं को, धीरे धीरे त्यागने पर भी, जितने अंश में उन वस्तुओं को त्यागेगा, उतने ही अंश में सनाथ बनता जावेगा और जब अनाथता देनेवाली वस्तुओं को सर्वथा त्याग देगा, तब सर्वांश में सनाथ बन जावेगा।

राजा, उतने कष्ट भोग कर अनाथता त्यागने एवं नाथ बनने के पश्चात्, मैं, इस सिद्धान्त पर पहुंचा हूँः—

अप्पा नई वेयरणी अप्पा मे कूडसामली।
अप्पा काम दुहा धेणू अप्पा मे नन्दणं वणं ॥३६॥

भावार्थ—मेरा आत्मा ही वैतरणी नदी है; मेरा आत्मा ही कूटशाल्मली वृक्ष है; मेरा आत्मा ही इच्छित वस्तु देने वाली कामधेनु है, और मेरा आत्मा ही नन्दनवन है।

शास्त्रकारों ने, पुण्य और पाप के फल के लिए, सुख और दुःख ये दो पक्ष दिखाये हैं। यानी यह बताया है, कि पुण्य से सुख प्राप्त होता है और पाप से दुःख। इस सुख दुःख से, धर्म का फल भिन्न है; क्योंकि धर्म का फल मोक्ष है। मोक्ष होने पर न तो कर्मजनित सुख ही है, न दुःख ही। यदि मोक्ष में कर्मजनित सुख माना जावेगा, तो फिर वहाँ दुःख का भी अस्तित्व मानना पड़ेगा। क्योंकि जहाँ एक पक्ष होगा वहाँ दूसरा पक्ष भी होगा ही। लेकिन मोक्ष में, कर्मजनित दुःख का नाम भी नहीं है, इसलिए कर्मजनित सुख भी नहीं है। दुःख और सुख तो तभी तक हैं, जबतक मोक्ष प्राप्त नहीं हुआ है। इसलिए धर्म का फल—मोक्ष—सुख-दुःख रहित है।

शास्त्रकारों ने, पाप का फल दुःख बताया है। दुःख में भी वैतरणी नदी एवं कूटशाल्मली के वृक्ष के दुःख विशेष हैं। शास्त्रकारों का कथन है, कि नैरयिक को वैतरणी नदी द्वारा बड़े बड़े कष्ट भोगने पड़ते हैं। वह उसमें डूबता तथा उतराता है, उसके अन्दर रहनेवाले अनेक जीव उसे काटते खाते हैं। इस प्रकार वैतरणी नदी द्वारा, नैरयिक को बहुत कष्ट भोगने पड़ते हैं।

नैरयिकों को नरक में कूटशाल्मली वृक्ष से भी बहुत दुःख होता है। कूटशाल्मली वृक्ष के पत्ते पैने होते हैं। वे पत्ते नैरयिकों के शरीर पर गिरकर, उनके शरीर को क्षत-विक्षत करते रहते हैं, जिससे नैरयिकों को अपार कष्ट होता है। शास्त्रकारों के कथनानुसार, नरक में विशेषतः इन्हीं के द्वारा कष्ट होता है।

शास्त्रकारों ने पुण्य का फल, सुख बताया है। पुण्य से प्राप्त होनेवाला सुख, विशेषतः इच्छित वस्तु देनेवाली कामधेनु और नन्दनवन के द्वारा प्राप्त होता है। कामधेनु; एक ऐसी गाय होती है, कि उससे चाही गई समस्त वस्तुएँ प्राप्त होती हैं। उसका अङ्ग-प्रत्यङ्ग विशेषतायुक्त है। उसका दूध तो लाभप्रद है ही, लेकिन गोबर और मूत्र में भी अन्धे की आँखें खोल देने का गुण होता है। इसी प्रकार नन्दनवन एक ऐसा बाग है, जिससे स्वर्गीय देवों को बहुत अनन्द मिलता है। उस बाग में पहुंचने पर वे लोग, चिन्ता-शोक-रहित हो जाते हैं।

सनाथी मुनि, सुख और दुःख दोनों पक्ष लेकर कह रहे हैं, कि अधिक-से-अधिक सुखदात्री कामधेनु गाय, तथा सुखदाता नन्दनवन माना जाता है और अधिक से अधिक दुःखदात्री वैतरणी नदी और दुःखदाता कूटशाल्मली वृक्ष माना जाता है। लेकिन कामधेनु, नन्दनवन, वैतरणी नदी और कूटशाल्मली वृक्ष कोई दूसरा नहीं है, किन्तु हमारा आत्मा ही है।

सनाथी मुनि सुख और दुःख की अन्तिम सीमा को लेकर कह रहे हैं कि संसार में सुख और दुःख का दाता दूसरे को माना जाता है। कोई कहता है, कि मुझे धन सुख देता है। कोई कहता है, स्त्री सुख देती है। कोई कहता है, कि पुत्र या मित्र सुख देता है। कोइ कहता है हाथी, घोड़े, राजपाट या कामधेनु सुख देता है। कोई कहता है, कि सुख तो स्वर्ग में ही

मिल सकता है, और प्रधानतः नन्दनवन ही सुखप्रद है। इसी प्रकार कोई कहता है, कि शरीर दुःख देता है। कोई कहता है कि शत्रु दुःख देता है। कोई कहता है; कि दुःख तो नरक में है और नरक में भी विशेषतः वैतरणी नदी एवं कूटशाल्मली वृक्ष दुःखदाता है। इस प्रकार लोगों ने दूसरों को सुख या दुःख का देनेवाला मान रखा है। कोई-कोई इससे आगे बढ़कर कहते हैं, कि सुख-दुःख देनेवाले कर्म हैं। शुभकर्म सुख देते हैं, और अशुभकर्म दुःख देते हैं। शुभकर्म, सुखप्रदा कामधेनु वा नन्दनवन से भेंट कराते हैं, और अशुभ कर्म नरक से भेंट कराते हैं, जहाँ दुःख देनेवाली वैतरणी नदी और कूट-शाल्मली वृक्ष है। कोई-कोई लोग, सुख-दुःख का दाता, काल को बताते हैं, कोई स्वभाव को बताते हैं और कोई ईश्वर को बताते हैं। लेकिन वास्तव में, सुख-दुःख देनेवाला दूसरा कोई नहीं है, किन्तु हमारा आत्मा ही अपने आपको सुख या दुःख का देनेवाला है। जो लोग, दूसरे को सुख-दुःख देनेवाला मानते हैं, वे उसी प्रकार की भूल करते हैं, जैसी भूल, कुत्ता करता है। कुत्ते को, यदि कोई लकड़ी से मारता है, तो वह उस लकड़ी से मारनेवाले को तो नहीं पकड़ता, और लकड़ी को पकड़ता है। वह समझता है, कि मारनेवाली यह लकड़ी ही है। यद्यपि वह लकड़ी तो निमित्त मात्र है, मारनेवाला तो दूसरा ही है लेकिन कुत्ता, अज्ञान के वश यह नहीं समझता है। इसी प्रकार, सुख-दुःख का दाता दूसरे को माननेवाले लोग भी भूल करते हैं। दूसरा

तो निमित्त मात्र है, सुख-दुःख का देनेवाला, दूसरा कदापि नहीं हो सकता। सुख या दुःख का दाता कौन है,इस बात को सिंह की तरह देखने की आवश्यकता है। सिंह पर जब कोई आदमी, गोली या तीर चलाता है,तब सिंह, उस गोली या तीर को नहीं पकड़ता, किन्तु, गोली या तीर चलानेवाले पर झपटता है। वह समझता है, कि यह गोली या तीर, अपने आप नहीं आया है, किन्तु दूसरे के चलाने से आया है। इसी प्रकार दुःख-सुख देनेवाले—वैतरणी नदी, कूटशाल्मली वृक्ष, कामधेनु और नन्दनबन आदि-किसी और को मत मानो, किन्तु यह देखो, किं दुःख-सुख बनाया किसने है ? इन्हें प्राप्त करनेवाला कौन है ? ये सुख-दुःख आते कहाँ से हैं और किसके भेजे हुए आते हैं ? इस बात का, शेर की तरह अनुसन्धान करने पर, अन्त में यही ठहरता है कि हमारा आत्मा ही वैतरणी नदी, कूटशाल्मली वृक्ष कामधेनु और नन्दनवन है। इसी प्रकार शत्रु, मित्र, अनुकूल, प्रतिकूल,स्वपक्षी, विपक्षी, आदि भी हमारे आत्मा से ही बनते हैं।

सनाथी मुनि जो बात कह रहे हैं, वही बात गीता में भी, इस प्रकार से कही है—

> उद्धरेदात्मनाऽऽत्मनं नात्मानमवसादयेत् ।
> आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥
>
> अध्याय ६ ठा

अर्थात्—अपने आत्मा से ही अपने आत्मा का उद्धार करो,

गिरने मत दो। आत्मा का शत्रु या मित्र, स्वयं आत्मा ही है। दूसरा कोई उत्थान या पतित करनेवाला नहीं है।

सनाथी मुनि कहते हैं—

अप्पा कत्ता विकत्तां य दुहाण य सुहाण य ।
अप्पा मित्तममित्तं च दुपट्ठिय सुपट्ठिओ ॥ ३७ ॥

भावार्थ—सुख और दुःख का उत्पादक एवं विनाशक (कर्त्ता-हर्त्ता) आत्मा ही है। आत्मा ही मित्र, शत्रु, दुष्प्रतिष्ठ (दुखःपात्र) एवं सुप्रतिष्ठ (सुख-पात्र) है।

सनाथी मुनि कहते हैं, कि छोटे से लेकर वैतरणी नदी और कूटशाल्मली वृक्ष तक के महान् दुःख आत्मा के ही पैदा किये हुए हैं, और आत्मा ही इन्हें नष्ट भी कर सकता है। इसी प्रकार, छोटे से लेकर कामधेनु एवं नन्दनवन तक के महान् सुख भी आत्मा के ही पैदा किये हुए हैं, और आत्मा इन सुखों को भी नष्ठ कर सकता है। समस्त दुःख-सुख का कर्त्ता आत्मा ही है, दूसरा कोई नहीं है।

भ्रमवश आत्मा, अपने लिए दुःख सुख का देने और करने वाला किसी दूसरे को ही मानता है। इस बात को तो भूल ही जाता है कि सुख-दुःख मेरे ही किये हुए हैं, इसी से मैं इन्हें भोग भी रहा हूँ, और यदि मैं चाहूँ तो इनसे निकल भी सकता हूँ। इस बात को, आत्मा किस प्रकार भूला हुआ है, यह बात एक दृष्टान्त द्वारा समझाई जाती है।

एक महल में, एक कुत्ता घुस गया। उस महल में, चारों ओर प्रतिबिम्ब-दर्शक काँच लगे हुए थे! कुत्ते को उन चारों तरफ लगे हुए काँच में अपना प्रतिबिम्ब दिखाई देने लगा। अपने प्रतिबिम्ब को देख कर, कुत्ता समझने लगा, कि ये दूसरे कुत्ते हैं। वह जिधर भी देखता है, उधर उसे अपने ही समान कुत्ते दिखाई पड़ते हैं। यद्यपि काँच में दिखाई देने वाले कुत्ते, दूसरे नहीं हैं, उसी कुत्ते का प्रतिबिम्ब है, और काँच में के कुत्तों को इसी कुत्ते ने बनाया है, लेकिन कुत्ता इस बात को नहीं समझता और काँच में दूसरे बहुत से कुत्ते समझ कर भोंकता है। यह कुत्ता आप स्वयं जिस प्रकार मुंह बना कर भौंकता है, उसी प्रकार काँच-स्थित कुत्ते भी मुँह बना कर भौंक रहे हैं; यह देख कर, तथा अपनी ही प्रतिध्वनि सुन कर, कुत्ता हैरान होता है, और समझता है, कि इन सब कुत्तों ने, मुझे चारों ओर से घेर लिया है, तथा मुझ पर हमला करने लिए भौंक रहे हैं। इस प्रकार, वह अपने भ्रम से ही आप दुःखी हो रहा है। दुःख देने वाला दूसरा कोई नहीं है।

ठीक इसी तरह, आत्मा, अपने आपके पैदा किये हुए दुःख भोगता है, कोई दूसरा दुःख नहीं दे रहा है, फिर भी, आत्मा यही समझता है, कि मुझे दूसरों ने दुःख दे रखा है। यदि वह कुत्ता चाहे, तो उस काँच जटित महल से बाहर निकल कर, अपने आपको सुखी बना सकता है, जो सर्वथा उसी के आधीन है, इसी तरह यदि आत्मा भी चाहे तो अपने आपको दुःख-मुक्त

और सुखी बना सकता है।

चाहे स्वर्ग का सुख हो, या नरक का दुःख, उस सुख-दुःख का कर्त्ता आत्मा ही है। आत्मा ने ही, स्वर्ग या नरक में जाने योग्य कार्य किये हैं। किसी दूसरे के किये हुए कार्यों के कारण, अपना आत्मा, स्वर्ग या नरक को नहीं जा सकता। आत्मा को अपने कर्तृत्व से ही स्वर्ग नरक प्राप्त होता है। सुख-दुःख का देनेवाला दूसरे को माननेवाले लोग, उपादान और निमित्त को नहीं समझते, इसीसे उन्हें यह भ्रम रहता है, कि सुख-दुःख का देने वाला दूसरा है।

कारण के बिना कार्य नही होता। चाहे स्वर्ग के सुख हों, या नरक के दुःख, प्राप्त होते हैं कारण से ही। उन कारणों का उत्पादक स्वयं आत्मा ही है। आत्मा ही, स्वर्ग या नरक प्राप्त होने के कार्य करता है। बिना कर्म्म किये, स्वर्ग या नरक नहीं जाता, न सुख-दुःख ही पाता है। नरक या स्वर्ग का आयुष्य बाँधने में, कर्म-बन्ध की प्रधानता है। कर्म-बन्ध, अध्यवसाय से होता है और अध्यवसाय, आत्मा के अधीन हैं। इसलिए आत्मा ही सुख-दुःख का कर्त्ता, भोक्ता, एवं हर्त्ता है।

कुछ लोग काल को नरक-स्वर्ग या सुख-दुःख का देने वाला कहते हैं। कुछ का कहना है, कि स्वभाव से ही नरक या स्वर्ग प्राप्त होता है। कोई, सुख-दुःख का देने वाला होनहार को मानते हैं, और कुछ लोग कहते हैं, कि सब कुछ ईश्वर के अधीन

हैं वह जैसा चाहता है, वैसा हो जाता है।

कालवादी कहते हैं कि कर्त्ता-हर्त्ता काल ही है। वे लोग अपने कथन की पुष्टि में कहते हैं, कि, 'काल होने पर ही, जवानी आती है और काल होने पर ही, बुढ़ापा आता है। काल होने पर ही, स्त्रियाँ बालक प्रसव करती हैं और वृक्ष फूलते फलते हैं। काल होने पर ही गर्मी सर्दी और वर्षा भी होती है। इस प्रकार प्रत्येक कार्य, काल से ही होता है, बिना काल, कुछ नहीं होता। इसी के अनुसार, काल होने पर, आत्मा को स्वर्ग जाना पड़ता है और काल होनेपर नरक जाना पड़ता है। काल होने पर, सुख मिलता है, और काल होने पर दुःख मिलता है। तात्पर्य यह कि सब कुछ काल ही करता है और काल ही से सब कुछ होता भी है।'

स्वभाववादी कहता है, कि 'काल कर्त्ता नहीं है, किन्तु स्वभाव कर्त्ता है। जो कुछ होता है, स्वभाव से ही होता है, काल आदि किसी के किये कुछ भी नहीं होता। यदि काल ही कर्त्ता है, काल से ही सब कुछ होता है, तो काल तो सब पर वर्तता है! फिर एक का काम होता है, और दूसरे का काम क्यों नहीं होता? काल होने पर भी एक स्त्री के तो बालक होता है और दूसरी स्त्री के क्यों नहीं होता? एक ही बाग के कुछ वृक्ष तो फलते हैं और कुछ वृक्ष काल होने पर भी क्यों नहीं फलते? एक वृक्ष में आम लगते हैं, दूसरे में नीबू क्यों लगते हैं? सब

में आम क्यों नहीं लगते? काल तो सब पर समानता से वर्तता है, फिर इस प्रकार की विषमता क्यों? इन बातों पर दृष्टि देने से काल, कर्त्ता नहीं ठहरता, किन्तु स्वभाव कर्त्ता ठहरता है। जो कुछ होता है, स्वभाव से ही होता है। स्वभाव होने पर ही स्त्री के बालक होते हैं और वृक्ष में फल लगते हैं। इसी प्रकार जिस वृक्ष में, आम का फल लगने का स्वभाव होता है, उसमें, आम का फल लगता है और जिसमें नींबू का फल लगने का स्वभाव होता है उसमें, नींबू का फल लगता है! जिसमें नरक का स्वभाव होता है, वह नरक जाता है और जिसमें स्वर्ग का स्वभाव होता है, वह स्वर्ग जाता है। जिसमें सुख का स्वभाव होता है, वह सुख पाता है, और जिसमें दुःख का स्वभाव होता है, वह दुःख पाता है। इस प्रकार, सब कुछ स्वभाव से ही होता है। स्वभाव ही, प्रत्येक बात का कर्त्ता है, काल आदि कोई भी कर्त्ता नहीं है।'

होनहारवादी, काल तथा स्वभाव आदि को न कुछ बताकर कहता है, कि 'जो कुछ होता है, होनहार से ही होता है। होनहार ही कर्त्ता है, दूसरा कोई भी कर्त्ता नहीं है। स्वभाववादी ने, कालवादी को झूठा ठहरा कर, स्वभाव को कर्त्ता बताया है, लेकिन स्वभाव भी कर्त्ता नहीं है, कर्त्ता तो होनहार ही है। यदि स्वभाव ही कर्त्ता हो, तो दो स्त्रियों में से, एक के तो पहले बालक हुआ और दूसरी के बहुत समय पश्चात् बालक क्यों हुआ? बालक उत्पन्न करने का स्वभाव तो इस दूसरी में भी

था, फिर इतने विलम्ब का क्या कारण ? स्वभाव होने पर भी पहले बालक नहीं हुआ और फिर बालक हुआ, इससे सिद्ध है, कि जो कुछ होता है, होनहार से ही होता है।'

ईश्वर को कर्त्ता मानने वाले लोग कहते हैं, कि 'जो कुछ होता है, वह सब ईश्वर के करने से ही होता है। काल, स्वभाव या होनहार कर्त्ता नहीं है, किन्तु ईश्वर ही कर्त्ता है। प्रत्येक बात, ईश्वर के करने से ही होती है। वह चाहता है, तो स्वर्ग भेज देता है और वह चाहता है, तो नरक भेज देता है। वह चाहता है, तो दुःख देता है और वह चाहता है तो सुख देता है। वह चाहता है तो स्त्री बालक प्रसव करती है, और वह नहीं चाहता है, तो प्रसव नहीं करती है। इस प्रकार सब कुछ ईश्वर के ही करने से होता है, किसी और के किये कुछ भी नहीं होता।'

इस प्रकार भिन्न-भिन्न मत के लोगों ने, संसार को चक्कर में डाल रखा है, लेकिन सनाथी मुनि कहते हैं, कि आत्मा ही कर्त्ता हर्त्ता और भोक्ता है ! दूसरा कोई न तो कर्त्ता है, न हर्त्ता है, न करानेवाला या भोगनेवाला ही है।

यद्यपि जैन-शास्त्र आत्मा को ही कर्त्ता बताते हैं, लेकिन ऊपर कहे हुए मतवादियों की युक्ति का, युक्तियुक्त उत्तर दिये बिना, साधारण लोगों की समझ में यह बात नहीं आ सकती कि आत्मा कर्त्ता-हर्त्ता कैसे है। इसलिए युक्ति द्वारा मतवादियों की युक्तियों का खण्डन किया जाता है।

सबसे पहले, हम, कालवादी से पूछते हैं, कि काल जड़ है, या चैतन्य ? काल, चैतन्य तो हो नहीं सकता—क्योंकि, समय का नाम 'काल' है—इसलिए काल, जड़ ही ठहरता है। काल, जड़ है और आत्मा चैतन्य है। जड़ काल, जब अपने आप को ही नहीं समझता है, तब वह, चैतन्य आत्मा के विषय में कुछ करने के लिए समर्थ कैसे हो सकता है ? चैतन्य-आत्मा को, जड़-काल के अधीन समझना; चैतन्य आत्मा के लिए, जड़ काल को कर्त्ता मानना कौनसी बुद्धिमानी है ? जड़ काल के अधीन चैतन्य आत्मा को मानना, चैतन्य को जड़ बनाना है। इस कारण, काल, कदापि कर्त्ता नहीं माना जा सकता।

काल की ही तरह; स्वभाव के लिए भी यही प्रश्न होता है, कि 'स्वभाव' जड़ है, या चैतन्य ? यदि कहें कि जड़ है, तो फिर काल की ही तरह स्वभाव भी, चैतन्य आत्मा का कर्त्ता कैसे हो सकता है और चैतन्य आत्मा को, जड़ स्वभाव के अधीन कैसे माना जा सकता है ? यदि कहो, कि स्वभाव चैतन्य है, तो आत्मा से भिन्न है, या अभिन्न ? यदि अभिन्न है, तब तो फिर आत्मा ही कर्त्ता ठहरता है, स्वभाव, कर्त्ता कहाँ रहा ? स्वभाव, आत्मा के अधीन है। आत्मा, अपने स्वभाव को अपनी इच्छानुसार बना सकता है। क्षमावान् से क्रोधी, क्रोधी से क्षमावान्, चोर से साहूकार और साहूकार से चोर होते देखे जाते हैं। इस प्रकार, स्वभाव में परिवर्तन होता है, जो सर्वथा आत्मा के अधीन है। इसलिए, स्वभाव कर्त्ता नहीं हो सकता।

यह बात दूसरी है, कि आत्मा के अधीन रहकर, स्वभाव, कर्तृत्व में भी भाग लेता हो, लेकिन इस कारण, स्वभाव कर्त्ता नहीं कहा जा सकता। कर्त्ता तो वही कहा जावेगा, जिसकी कर्तृत्व में प्रधानता है।

रही होनहार की बात; लेकिन होनहार तो कुछ है ही नहीं। होनहार को कर्त्ता मानना, असत् को सत् मानना है। हम होनहारवादी से पूछते हैं कि एक रसोई बनानेवाला, रसोई बनाने की सब सामग्री लेकर बैठा रहे, रसोई न बनावे, किन्तु यह मानता रहे या कहा करे, कि 'रसोई बननी होगी, तो बन जावेगी!' तो क्या इस प्रकार बैठे रहने पर, रसोई बन सकती है? यदि बिना बनाये रसोई नहीं बन सकती, तो फिर होनहार को कर्त्ता मानना तथा उसके भरोसे बैठे रहना, कैसे उचित है? यदि होनेवाले कार्य को ही होनहार कहा जावे, तो उस होनेवाले कार्य का कर्त्ता तो आत्मा ही रहा न? जब आत्मा ही कर्त्ता है, तब फिर होनहार को कर्त्ता कैसे माना जा सकता है?

अब ईश्वर को कर्त्ता माननेवाले लोगों से हम पूछते हैं, कि ईश्वर का अस्तित्व आत्मा के अन्तर्गत ही है, या आत्मा से भिन्न? यदि आत्मा के अन्तर्गत ही ईश्वर का अस्तित्व है, तब तो चाहे ईश्वर को कर्त्ता कहो, या आत्मा को कर्त्ता कहो, एक ही बात है। फिर तो कोई मतभेद ही नहीं है। लेकिन यदि यह कहो, कि ईश्वर का अस्तित्व आत्मा से भिन्न है; ईश्वर एक व्यक्ति विशेष

है और जो कुछ करता है, वही करता है, आत्मा के किये कुछ नहीं होता; तो इसका अर्थ तो यह हुआ, कि आत्मा एक मशीन है और ईश्वर उसका संचालक है! दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि आत्मा एक मिट्टी का ढेला है और ईश्वर उस मिट्टी के ढेले के बर्तन बनानेवाला कुम्हार है! या यों कहा जा सकता है कि आत्मा बन्दर है, और ईश्वर मदारी! ईश्वर-रूपी मदारी, आत्मा-रूपी बन्दर को जैसा सिखलाता और नचाता है, उसे उसी प्रकार नाचना होता है! ईश्वर को, इस प्रकार का कर्त्ता मानने पर तो बड़ी गड़बड़ होती है। संसार अनावस्था दोष से परिपूर्ण हो जाता है! फिर तो धर्म करने की भी आवश्यकता नहीं रहती। क्योंकि, चाहे धर्म करो या पाप, होगा वही, जो ईश्वर चाहेगा! धर्म करने से कोई लाभ न होगा! इसी प्रकार, यह भी मानना होगा, कि आत्मा यदि धर्म करता है, तो ईश्वर की प्रेरणा से और पाप करता है, तो ईश्वर की प्रेरणा से! अच्छा बुरा, ईश्वर की प्रेरणा से ही करता है। सब ईश्वर ही करता कराता है। लेकिन यदि ऐसा है, तो यह प्रश्न होता है, कि फिर आत्मा को, नरकादि के कष्ट क्यों भोगने पड़ते हैं? आत्मा ने, स्वयं तो कुछ किया नहीं, जो कुछ किया, वह ईश्वर के कराने से किया, फिर बिना किये का फल, आत्मा को क्यों भोगना पड़े? ईश्वर के सम्मुख, आत्मा तो एक मिट्टी के ढेले के समान, या एक मदारी के बन्दर के समान निरधिकारी है! स्वयं कुछ करने की शक्ति नहीं रखता है! फिर भी यदि

ईश्वर उसे नरक भेजता है, तब तो ईश्वर अन्यायी ठहरा ! उसने स्वयं ही, आत्मा से बुरा काम कराया और फिर भी उसे नरक में भेज दिया, इससे अधिक अन्याय और क्या होगा ? ऐसा अन्याय तो मनुष्य भी नहीं करता ! मनुष्य भी, अपने सेवक द्वारा कराये हुए अच्छे बुरे कार्य के परिणाम को, स्वयं भोगता है, नौकर पर नहीं डालता। एक व्यापारी का मुनीम, यदि नुकसान का सौदा कर बैठता है, तो उस नुकसान को भी व्यापारी ही उठाता है, मुनीम को नहीं उठाना पड़ता। फिर जो ईश्वर स्वयं ही आत्मा से पाप करावे, वही उस आत्मा को नरक भेज दे, यह न्यायोचित कैसे है ? उचित तो यह है, कि ईश्वर, प्रत्येक आत्मा को कुछ न कुछ इनाम ही दे, फिर चाहे आत्मा द्वारा बुरा ही काम सम्पादन क्यों न हुआ हो ! क्योंकि बुरा काम करके भी, आत्मा ने, ईश्वर की आज्ञा का पालन ही किया है, और आज्ञा का पालन करने के कारण, आत्मा तो पुरस्कार का ही अधिकारी है।

आत्मा से, ईश्वर ही सब कुछ कराता हो, आत्मा, कुछ भी अधिकार न रखता हो, तब तो फिर, संसार में, किसी प्रकार का सदुपदेश देने, या धर्म का प्रचार करने आदि की भी आवश्यकता नहीं रहती ! क्योंकि आत्मा तो दूसरे के अधीन है, इसलिए उस पर उपदेश का कोई असर नहीं हो सकता और ईश्वर को उपदेश की आवश्यकता ही क्या है ? यदि यह कहा जावे, कि ईश्वर की प्रेरणा से ही, एक आत्मा, दूसरे आत्मा को उपदेश

देता है, तो यह बात ठीक नहीं जँचती। क्योंकि वही ईश्वर, चोरी त्यागने का उपदेश दिलावे और वही ईश्वर चोरी करने की प्रेरणा करे, यह कैसे सम्भव है !

ईश्वर को कर्त्ता मानने पर, इसी प्रकार के बहुत से ऐसे प्रश्न उत्पन्न होते हैं, जिनका समाधान होना कठिन है।

ईश्वर को कर्त्ता माननेवाले लोग ईश्वर-कर्तृत्व के विषय में, एक यह दलील देते हैं, कि 'ईश्वर को कर्त्ता न मानने से, संसार अन्याय फैल जावेगा ! लोगों को, पुण्य-पाप का फल देनेवाला कोई न रहेगा। कोई भी अपराधी, स्वयं दण्ड नहीं भुगतना चाहता। स्वयं जेल जाना, किसी को भी पसन्द नहीं है। स्वेच्छापूर्वक, कोई भी दुःख नहीं सहना चाहता, सब सुख ही चाहते हैं। इसलिए, जिस प्रकार राजा के न होने पर अन्याय अपराध बढ़ जावेंगे, अपराधियों को दण्ड और अच्छे काम करनेवालों को पुरस्कार देनेवाला कोई न रहेगा, जिससे व्यवस्था में गड़बड़ होगी और अशान्ति बढ़ जावेगी; इसी प्रकार, यदि ईश्वर न हो, तो पाप-पुण्य का फल कौन दे ? ईश्वर कर्त्ता है, तभी तो पापियों को दण्ड और पुण्यात्माओं को सुख मिलता है ! यदि ईश्वर कर्त्ता न हो, तो यह व्यवस्था न रहे !'

इस प्रकार, राजा का उदाहरण देकर, ईश्वर-कर्तृत्व सिद्ध करते हैं, लेकिन इस दलील पर भी कई प्रश्न होते हैं। सब से

पहला प्रश्न तो यही होता है कि जब ईश्वर ही आत्मा से पुण्य पाप करता है, तब उसका फल आत्मा क्यों भोगे? दूसरा प्रश्न यह होता है कि बहुत स्थानों पर, राजा नहीं होता है,बिना राजा के ही काम चलता है, तो क्या इसी प्रकार, कहीं-कहीं बिना ईश्वर के भी काम चलता है? तीसरा प्रश्न यह है कि कहीं-कहीं राजा का अस्तित्व ही उठ गया है और सम्भव है कि सभी जगह से उठ जावे, तो क्या ऐसा ईश्वर के लिए भी हो सकता है? चौथा प्रश्न यह है कि राजा का परिवर्तन भी होता रहता है और उसके नियम भी बदलते रहते हैं, तो क्या ऐसे ही ईश्वर और उसके नियम परिवर्तनशील हैं? सबसे बड़ा प्रश्न यह होता है कि एक आदमी, चोरी कर रहा है। यह चोरी का पाप, वह आदमी, पूर्व-पाप के दण्ड स्वरूप कर रहा है। या नया पाप, कर रहा है? यदि यह कहो, कि पूर्व-पाप के दण्ड स्वरूप कर रहा है, तब तो यह अर्थ हुआ कि ईश्वर पाप का दण्ड देने केलिए, पाप कराता है। फिर तो किसी को 'चोरी मत करो!' उपदेश, ईश्वरीय व्यवस्था में हस्तक्षेप करना—अपराध होगा! यदि यह कहा जावे, कि वह चोरी करनेवाला, नया पाप कर रहा है, तो ईश्वर की प्रेरणा से कर रहा है, या स्वेच्छा से? यदि ईश्वरकी प्रेरणा से कर रहा है,तब तो यह हुआ कि ईश्वर पाप कराता है और स्वयं पाप करा कर भी, पाप का दण्ड देता है। यदि यह कहा जावे, कि पाप करने के लिए, आत्मा स्वतन्त्र है, इसीलिए वह स्वेच्छा से पाप कर रहा है, तब भी यह प्रश्न होता है, कि पाप हो जाने

पर उसका दण्ड देने के बदले, ईश्वर, पाप करने वाले को, पाप करने के समय ही क्यों नहीं रोक देता ? पाप करने देकर फिर दण्ड देने से, इश्वर को क्या लाभ ? वह दयालु कहाता है, फिर किसी को दुःख में पड़ने या किसी के पास दुःख रहने ही क्यों देता है ?

ईश्वर को कर्त्ता सिद्ध करने के लिए दी जाने वाली समस्त दलीलें,इसी प्रकार लचर ठहरती हैं। हाँ, ईश्वर को निमित्त रूप कर्त्ता तो जैन-शास्त्र भी मानते हैं, लेकिन ईश्वर को उपदान कर्त्ता मानने, एवं आत्मा को—जो प्रत्यक्ष ही कर्त्ता भोक्ता है—अकर्त्ता मानने का कोई कारण नहीं है। यदि आत्मा को ही शुद्ध-प्ररुपणा के अनुसार ईश्वर माना जावे, तब तो ईश्वर को कर्त्ता मानने में कोई आपत्ति नहीं है,लेकिन ईश्वर को व्यक्ति विशेष और आत्मा से भिन्न मान कर कर्त्ता मानना, ठीक नहीं है। गीता में भी कहा है—

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ॥

अध्याय ५ वां।

अर्थात्- ईश्वर न तो संसार के कर्तृत्व में है, न कर्मों की सृष्टि करने में ही है।

इस प्रकार गीता के अनुसार भी, ईश्वर कर्त्ता नहीं है।

कर्म करने में आत्मा स्वतंत्र है, लेकिन कर्मबन्ध हो जाने पर आत्मा, कर्म के आधीन हो जाता है। फिर आत्मा को, कर्मों का अच्छा बुरा फल–विपाक या प्रदेश से–भोगना ही पड़ता है। कर्म का फल भुगताने वाला कोई दूसरा नहीं है, किन्तु कर्म स्वयं ही अपना फल उसी प्रकार भुगताते हैं, जिस प्रकार मिश्री और मिर्ची, अपना मीठापन और कडुआपन देती है। मिश्री को मुँह में रखने पर मीठापन और मिर्च को मुँह में रखने पर कडुआपन, आप ही मालूम होता है। इस मीठेपन या कडुएपन के देने में, किसी और की सहयता-प्रेरणा या शक्ति नहीं होती। यदि किसी दूसरे की प्रेरणा या शक्ति से मिर्च और मिश्री, कडुआपन या मीठापन दे, तो इसका अर्थ यह होगा कि मिर्च और मिश्री में, स्वभावतः कडुआपन या मीठापन नहीं है। लेकिन वास्तव में, मिर्च और मिश्री, किसी की प्रेरणा से कडुआपन या मीठापन नहीं देती है, किन्तु उनमें, मुँह में रखने पर कडुआपन और मीठापन देने का स्वभाव ही है। ठीक इसी प्रकार, कर्म में फल भुगताने की शक्ति स्वभावतः है। शुभ कर्म का शुभ फल और अशुभ कर्म का अशुभ फल, कर्म अपने स्वभाव से ही भुगताते हैं। इसमें किसी तीसरे की आवश्यकता नहीं है। यदि कर्म का फल कोई तीसरा भुगताता हो, तो इसका अर्थ यह होगा कि कर्म अपना फल भुगताने की शक्ति नहीं रखते। लेकिन यह बात नहीं है। मिर्च और मिश्री की तरह, कर्म में भी अच्छा-बुरा फल भुगताने की शक्ति है, इसलिए कर्म-फल भुगताने के लिए,

ईश्वर की आवश्यकता नहीं होती।

रही यह बात, कि फिर आत्मा, स्वर्ग या मोक्ष क्यों नहीं चला जाता ? इसका उत्तर यह है, कि जैन-शास्त्रों के समीप स्वर्ग कोई महत्वपूर्ण स्थान नहीं है। जैन-शास्त्र, स्वर्ग को भी कर्म-फल भोगने का वैसा ही एक स्थान मानते हैं, जैसा कि नरक को। हाँ, यह अन्तर अवश्य मानते हैं, कि स्वर्ग में शुभ कर्मों का फल भुगता जाता है और नरक में अशुभ कर्मों का फल भुगता जाता है। शुभ कर्म भोगने के लिए, आत्मा को स्वर्ग जाना पड़ता है, इसलिए यदि आत्मा स्वर्ग चला भी गया, तब भी कोई विशेषता की बात नहीं हुई। अब केवल मोक्ष जाने की बात रही, लेकिन जब तक आत्मा के साथ कर्म हैं, आत्मा, मोक्ष जा ही कैसे सकता है और कर्म-रहित होने पर आत्मा को मोक्ष से रोक ही कौन सकता है ? कर्म-रहित आत्मा का नाम ही 'मुक्तात्मा' है। आत्मा के साथ कर्म न होने को ही मोक्ष कहते हैं। यदि आत्मा अपने कर्मों को नष्ट कर दे, तो वह मुक्त ही है।

सारांश यह, कि काल, स्वभाव, होनहार, या ईश्वर को कर्त्ता मानना, भयंकर भूल है। इस भूल से, आत्मा, अनाथता में पड़ता है। कर्त्ता, कोई दूसरा नहीं है, किन्तु आत्मा ही है। इसी-प्रकार, फल देने वाला भी कोई दूसरा नहीं है, किन्तु कर्म, अपना फल आप ही भुगता देते हैं। इसलिए आत्मा ही कर्त्ता, हर्त्ता और भोक्ता है !

कुछ लोग कहते हैं, कि जो कुछ होता है, कर्म से होता है। इस प्रकार, वे सब भलाई बुराई कर्म पर ही डाल देते हैं, लेकिन यह नहीं विचारते कि ये कर्म, किये हुए किसके हैं? कर्म का करने वाला कर्त्ता कौन है? कर्म आत्मा के किये बिना आप ही आप नहीं आये हैं। आत्मा के करने से ही आये हैं। जब आत्मा के करने से ही कर्म आये हैं और अपना अच्छा बुरा फल देते हैं, तब कर्म के कर्त्ता-आत्मा-को छोड़ कर, कर्म को दोष देने से क्या लाभ? यह तो वही कुत्ते की सी बात हुई, जो लकड़ी मारने वाले को न पकड़ कर, लकड़ी को पकड़ता है। कर्म तो आत्मा के किये हुए हैं और आत्मा उन्हें नष्ट करने की शक्ति भी रखता है। उन बेचारों की क्या शक्ति है, जो आत्मा के किये बिना ही, आत्मा को अच्छा बुरा फल भुगतावे। कोई आदमी अपने मुँह में मिर्च रख ले, और जब मुँह जलने लगे, तब मिर्च को दोष दे, तो ऐसे आदमी का मिर्च को दोष देना मूर्खता के सिवा और क्या कहा जावेगा? मिर्च की ही तरह कर्मों का तो शुभाशुभ फल देना, स्वभाव ही है। यदि आत्मा, कर्म में लिप्त न हो तो वे कर्म, शुभाशुभ फल दे ही कैसे सकते हैं? इस प्रकार बेचारे कर्म, निर्दोष हैं।

तात्पर्य यह कि वैतरणी नदी एवं कूटशाल्मली वृक्ष ऐसा दुःख देने वाला, तथा कामधेनु और नन्दनवन ऐसा सुख देने वाला आत्मा ही है। यही बात अनाथता और सनाथता के लिए भी है। आत्मा, अनाथ भी अपने आप ही होता है और सनाथ,

भी अपने आप ही होता है। कोई दूसरा न तो रुष्ट होकर अनाथ बना सकता है न तुष्ट होकर सनाथ बना सकता है।

अब प्रश्न यह होता है, कि आत्मा, वैतरणी नदी कूट-शाल्मली वृक्ष, कामधेनु या नन्दनवन बनता कैसे है? अर्थात् कैसे कार्यों के करने से वैतरणी नदी, कूटशाल्मली वृक्ष बनता है और कैसे कार्यों से कामधेनु, एवं नन्दनवन बनता है? सनाथी मुनि के शब्दों, में इस प्रश्न का उत्तर यह है, कि सांसारिक गड़बड़ में फँस कर पाप एवं निषिद्ध कार्य करना, यह तो अपने आत्मा को वैतरणी नदी और कूटशाल्मली वृक्ष बनाना है, तथा सांसारिक झंझटो से निकल कर, आत्मा को मोक्ष की ओर बढ़ाना, संयम धारण करना, यह अपने आत्मा को काम-धेनु एवं नन्दनवन बनाना है। सनाथी मुनि कहते हैं, कि पहले मेरा आत्मा ही वैतरणी नदी और कूटशाल्मी वृक्ष बना हुआ था, इसीसे स्वयं भी कष्ट भोग रहा था और दूसरों को भी कष्ट पहुंचा रहा था; लेकिन अब वही मेरा आत्मा, कामधेनु और नन्दनवन बन गया है, इससे आप भी आनन्द में है, तथा दूसरों को भी आनन्द पहुंचाता है।

राजा, जब मैं रोग-ग्रस्त था, तब कहता था कि मेरी आँखें, मेरा सिर और मेरा शरीर दुःख दे रहा है! यदि ये दुःख न दें, तो मुझे शांति हो जावे। उधर वैद्य कहते थे, कि वात पित्त आदि में विषमता आगई है, इससे दुःख हो रहा है। यदि

वात पित्त आदि सम हो जावें, तो दुःख मिट जावे। उनकी समझ से, दवा, वात पित्त को सम कर सकती थी, इसलिए, दवा ही शांति देने वाली थी। इस प्रकार मैं कुछ समझ रहा था और वैद्य कुछ कह रहे थे। अपनी समझ के अनुसार उन्होंने मेरा उपचार भी किया, लेकिन मुझे, शांति न हुई। वैद्य लोग पीड़ा का अवास्तविक निदान करते थे, वास्तविक निदान नहीं करते थे। यानी यह नहीं बतलाते थे, कि वास्तव में यह पीड़ा आई कहाँ से! उनकी दृष्टि, अपने व्यवसाय तक ही सीमित थी, इसलिए वे, इन रोगों के होने का यह कारण न बता सके, कि ये रोग आत्मा की अनाथता से ही उत्पन्न हुए हैं। अन्त में, उपचार की ओर से उत्पन्न निराशा एवं अविश्वास ने, मेरे ही हृदय में यह विचार पैदा किया, कि ये सब रोग, मेरे आत्मा में से ही निकले हैं और उसकी अनाथता से उत्पन्न हुए हैं।

सनाथी मुनि ने, राजा श्रेणिक से यह कहा है कि हमारा आत्मा ही वैतरणी नदी, कूटशाल्मली वृक्ष, कामधेनु और नन्दन-वन है। इस कथन पर से किसी के हृदय में यह प्रश्न हो सकता है, कि वैतरणी नदी, कूटशाल्मली वृक्ष, नन्दनवन और कामधेनु का अस्तित्व है भी, या केवल कल्पना ही कल्पना है? इस प्रश्न का उत्तर यह है, कि शास्त्रकारों को, किसी प्रकार का भय दिखाना या प्रलोभन देना अभीष्ट नहीं था, जो वे झूठी कल्पना करते। झूठी कल्पना तो तब की जाती है, जब कोई

स्वार्थ हो। शास्त्रकारों ने, वैतरणी नदी एवं नन्दनवन आदि बता कर यह नहीं कहा है, कि हमें कुछ दोगे, तो नन्दनवन तथा कामधेनु प्राप्त होगी और नहीं दोगे, तो वैतरणी नदी एवं कूटशाल्मली वृक्ष प्राप्त होगा। यदि उन्होंने, ऐसी कोई योजना रखी होती, तब तो उक्त सन्देह होना स्वाभाविक था, लेकिन उन्होंने ऐसी कोई योजना नहीं रखी है-ऐसा कोई प्रस्ताव नहीं किया है-इसलिए यह सन्देह नहीं किया जा सकता, कि शास्त्रकारों ने, वैतरणी नदी आदि की झूठी कल्पना की होगी। शास्त्रोंकारों ने, वैतरणी नदी आदि बताने के साथ ही यह भी कहा है कि तुम्हारा आत्मा ही वैतरणी नदी, कूटशाल्मली वृक्ष, नन्दनवन और कामधेनु है। तुम्हारी आत्मा ही, दु,ख एवं सुख का कर्त्ता है। इस प्रकार वैतरणी नदी, तथा नन्दनवन आदि का अस्तित्व आत्मा में ही सिद्ध किया है और कहा है, कि तुम अपने आत्मा को, इनमें से चाहे जैसा बना सकते हो।

अब प्रश्न यर होता है कि वैतरणी नदी, कूटशाल्मली वृक्ष, कामधेनु और नन्दनवन, हमारे आत्मा से दूर हैं और हमारा आत्मा इन से दूर है। ऐसी दशा में, आत्मा से इन सब का सम्बन्ध कैसे हो सकता है?

इस प्रश्न का उत्तर यह है, कि स्वर्ग-नरक, सुख-दुःख, वैतरणी नदी, कूटशाल्मली वृक्ष, कामधेनु और नन्दनवन आदि सबका विधायक आत्मा ही है। आत्मा ही विधायक है, इस लिए वैतरणी नदी तथा नन्दनवन आदि दूर होमें पर भी, समीप

किस प्रकार आजाते हैं और आत्मा उनके समीप किस प्रकार पहुंच जाता है, यह बात निम्न दृष्टान्त पर से समझ में आजावेगी।

एक आदमी बीमार है। निरोगता उससे दूर है। इसी प्रकार एक आदमी स्वस्थ है और रोग उससे दूर हैं। लेकिन रोगी आदमी ने पथ्य और स्वस्थ आदमी ने कुपथ्य का सेवन किया, इससे रोगी आदमी स्वस्थ बन गया और स्वस्थ आदमी रोगी बन गया। यानी, बीमारी आदमी से निरोगता दूर थी फिर भी उसके पास आगई और वह बीमार निरोगता के पास होगया। तथा स्वस्थ आदमी से रोग दूर थे, फिर भी रोग समीप आगये और वह रोगों के समीप हो गया।

ठीक इसी प्रकार, वैतरणी नदी, कूटशाल्मली वृक्ष, कामधेनु एवं नन्दनवन से आत्मा और आत्मा से ये सब दूर हैं, फिर भी अच्छे या बुरे, पाप या पुण्य कार्य से, ये सब आत्मा के और आत्मा इनके समीप हो जाता है।

सनाथी मुनि ने, राजा श्रेणिक से कहा कि आत्मा ही सुख दुःख का निर्माता एवं भोक्ता है और आत्मा ही अच्छा करने वाला मित्र, तथा बुरा करने वाला शत्रु है। सनाथी मुनि के इस कथन के प्रथमांश का विवेचन तो हो चुका, अब यह देखना है, कि आत्मा अच्छा करने वाला मित्र एवं बुरा करने वाला शत्रु कैसे बनता है!

सबसे पहले यह देखने की आवश्यकता है, मित्र तथा शत्रु कहते किसे हैं? वैसे तो संसार में खाने पीने वाले बहुत से मित्र बन जाते हैं, लेकिन वे वास्तव में मित्र हैं या शत्रु, यह परीक्षा समय विशेष पर ही होती है। तुलसीदास ने कहा है—

धीरज धर्म मित्र अरु नारी।
आपति काल परखिये चारी ॥

अर्थात्—धैर्य, धर्म, मित्र और स्त्री की परीक्षा आपत्ति-काल में करो।

मित्र की परीक्षा, आपत्ति के समय में ही होती है। दुःख में जो सहायता करे, वही मित्र है। संकट के समय सहायता न करे, वह मित्र नहीं है किन्तु मित्र के रूप में छिपा हुआ शत्रु है। श्री जम्बू महाराज ने अपनी रानियों से कहा था कि प्रिये, तुम प्रेम दिखाती हो, मित्रता बताती हो, लेकिन मित्र वही है जो संकट के समय काम आवे। केवल सुख के समय, मित्रता का प्रदर्शन करने वाला ही, मित्र नहीं है। इसके लिए मैं एक दृष्टान्त देता हूँ।

एक राजा का प्रधान था। प्रधान ने विचारा कि अपने समय असमय के लिए किसी को मित्र भी बना रखें। यह विचार कर उसने अपना एक नित्य-मित्र बनाया। प्रधान, नित्य मित्र की बहुत खातिर करता। उसे अपनी ही तरह खिलाता-पिलाता

और पहनाता ओढ़ाता। नित्य मित्र से वह किसी भी प्रकार का भेद दुराव न रखता। नित्य-मित्र, प्रधान के और प्रधान नित्य-मित्र के साथ ही रहता। प्रधान ने, एक दूसरा पर्व-मित्र भी बनाया। वह, पर्व-मित्र को आठवें पन्द्रहवें दिन अपने यहाँ बुला कर, उसकी खातिर करता, खिलाता-पिलाता और पहनाता ओढ़ाता। इन दोनों मित्रों का प्रधान को बहुत भरोसा था। प्रधान समझता था कि ये मित्र कष्ट के समय में मेरी सब प्रकार की सहायता करेंगे। दोनों मित्रों के प्रकट व्यवहार से भी ऐसा ही प्रतीत होता था।

इन दो मित्रों के सिवा, प्रधान ने, एक सेठ को भी मित्र बना रखा था। प्रधान का, सेठ से कोई विशेष व्यवहार न था, केवल सैन जुहार का ही सम्बन्ध था। प्रधान और सेठ जब कभी इधर-उधर मिल जाते, तब परस्पर जुहार कर लेते और इशारे से एक दूसरे की कुशल पूछ लेते। इन दोनों में, इतनी ही मित्रता थी।

कुछ दिनों तक मित्रों के साथ प्रधान का मित्रतापूर्ण व्यवहार चलता रहा। प्रधान के साथ नित्य-मित्र तो सदा और पर्व-मित्र यदा कदा आनन्द उड़ाता रहा। इनकी परीक्षा का कोई समय न आया। एक बार राजा की प्रधान पर कोप दृष्टि हो गई। राजा ने, आज्ञा दी कि प्रधान को पकड़ कर कारागार में डाल दो। राजा की आज्ञा का समाचार सुन कर प्रधान भयभीत हुआ।

उसने विचारा, कि जो होना होगा सो तो होगा ही, लेकिन यदि इस समय मैं क्रुद्ध राजा के हाथ पड़ गया, तो मेरी बड़ी दुर्दशा होगी। इसलिए इस समय राजा के हाथ न पड़ना ही अच्छा है।

इस प्रकार विचार कर, प्रधान घर छोड़ कर भाग निकला। उसे सबसे अधिक अपने नित्य मित्र का विश्वास था, इसलिए वह अपने नित्य-मित्र के पास गया। प्रधान ने नित्य-मित्र से राजा के कोप का वृतान्त कह कर कहा कि मेरे घर पर राजा ने पहरा लगा दिया है, मैं जैसे-तैसे निकल भागा हूँ, इस समय यदि मैं पकड़ा जाऊँगा, तो मेरी बड़ दुर्दशा होगी, इज्जत मिट्टी में मिल जावेगी इसलिए तुम मुझे कहीं छिपने को स्थान दो और मुझे बचाने का प्रयत्न करो। प्रधान की बात के उत्तर में, नित्य-मित्र ने कहा, कि जिस पर राजा का कोप है, उसे मैं अपने घर में कदापि नहीं रख सकता। नित्य-मित्र की यह बात सुन कर, प्रधान को बड़ा आश्चर्य हुआ। वह नित्य-मित्र से कहने लगा कि अरे! तू यह क्या कहता है। मैं तेरा और तू मेरा मित्र है न! आज तक अपना साथ रहे, साथ और समान खाया-पिया और आज समय पड़ने पर इस तरह उत्तर देता है? नित्य-मित्र ने, क्रुद्ध हो कर प्रधान से कहा कि बस! यहाँ से चला जा, नहीं तो अभी पत्थर से सिर फोड़ दूँगा या राजा को खबर देकर पकड़वा दुगा। प्रधान अधिक क्या कहता! वह चुपचाप भाग चला।

नित्य-मित्र के पास से रवाना होकर, प्रधान अपने पर्व- मित्र

के यहाँ आया। पर्व-मित्र ने पहले तो प्रधान की खातिर की, लेकिन जब प्रधान ने अपना संकट सुना कर, पर्व-मित्र से सहायता एवं रक्षा की याचना की, तब पर्व-मित्र ने हाथ जोड़ कर प्रधान से कहा कि मैं राजा के अपराधी को अपने यहाँ रखने में असमर्थ हूँ। यदि राजा को खबर हो जावेगी, तो वह मेरा घर खुदवा कर फिकवा देगा। इसलिए कृपा करके आप यहाँ से प्रधार जाइये। हाँ, यदि आप भूखे हों, तो मैं आपको भोजन करादूँ और यदि द्रव्य की आवश्यकता हो, तो द्रव्य ले जाइये, लेकिन यहाँ मत ठहरिये।

नित्य-मित्र ने प्रधान के साथ जो व्यवहार किया था, उसके अनुभव ने, प्रधान में यह साहस न होने दिया कि वह पर्व-मित्र से और कुछ कहता। वह, पर्व-मित्र के यहाँ से यह विचार कर चलता बना, कि इसके साथ तो मैंने, नित्य-मित्र से कम ही मित्रता का व्यवहार किया था, फिर भी यह पत्थर मारने को तो तैयार नहीं हुआ!

प्रधान, सैन जुहारी मित्र, सेठ के यहाँ गया। रात का समय था। सेठ के घर का द्वार बन्द हो चुका था। नित्य-मित्र और पर्व-मित्र की ओर से रक्षा के लिए स्थान नहीं मिला था किन्तु मित्रता के विपरीत व्यवहार हुआ था, इसलिए प्रधान को अपने सैन जुहारी मित्र सेठ से किसी प्रकार की आशा तो न थी, फिर भी उसने सड़क पर खड़े होकर सेठ को आवाज़ दी। सेठ

ने द्वार खोल कर पूछा कौन है ? प्रधान ने कहा इधर आइये, मैं बताता हूँ। सेठ प्रधान के समीप गया। प्रधान को देखकर सेठ ने आश्चर्यान्वित हो कहा—कि आप इस समय कैसे ? प्रधान ने उत्तर दिया, कि मुझे आपसे कुछ कहना है ! सेठ ने कहा, कि कुछ कहना है, तो घर में चल कर कहिये, यहाँ सड़क पर खड़े रह कर बात करना ठीक नहीं। प्रधान ने कहा—कि आप मेरी बात यहीं सुन लें तो अच्छा होगा, मुझे घर में ले जाने पर संभव है कि आपकी कोई हानि हो। क्योंकि इस समय मुझ पर राजा का कोप है ! सेठ ने उत्तर दिया, कि यदि ऐसा है, तो सड़क पर खड़े रह कर बात करना और भी बुरा है। आप घर में चलिये, जो होगा सो देखा जावेगा।

सेठ, प्रधान को अपने घर में लिवा ले गया। घर में पहुँच कर, सेठ ने, प्रधान से कहा, कि पहले आप शौचादि आवश्यक कार्य से निपट लीजिये, जिसमें फिर निश्चिन्त होकर अपन बात चीत करें। सेठ के कथानुसार प्रधान ने हाथ मुँह धोया। फिर सेठ ने, प्रधान को भोजन कराया। प्रधान को ऐसे समय में भोजन कब अच्छा लग सकता था, फिर भी उसने सेठ के अत्याधिक आग्रह पर थोड़ा—बहुत भोजन किया। भोजन कर, चुकने के पश्चात् सेठ ने प्रधान से कहा, कि अब आप सब वृत्तान्त कहिये, परन्तु मैं आपका मित्र हूँ, इसलिए आप कोई बात छिपाइये या झूठ मत कहिये, किन्तु सच्ची २ बात बताइये, जिससे कुछ उपाय किया जासके। प्रधान ने यह बात स्वीकार की !

प्रधान, सेठ से कहने लगा, कि मेरे लिए मेरे विरोधी लोगों ने, राजा से अमुक अमुक बातों की चुगली की है। इन्हीं बातों पर से, राजा मुझ पर कुपित हैं, लेकिन वास्तव में ये बातें गलत हैं और मैं निर्दोष हूँ। यदि राजा ने मुझे अवकाश दिया होता, या मुझ से पूछा होता, तब तो मैं सब बातें बता देता परन्तु इस समय तो राजा के पास जाना, अपनी, इज्जत खोना है। विरोधी लोगों ने जो बातें राजा से कही हैं, उनमें की अमुक-अमुक बात तो अमुक मिसल में, या अमुक बही में लिखी हुई है। हाँ, अमुक बात की गल्ती मेरे से अवश्य हुई है।

प्रधान ने इस प्रकार अपने ऊपर लगाये जाने वाले सभी अभियोगों एवं उनकी सफाइयों से सेठ को परिचित कर दिया और जो भूल हुई थी, उसे भूल मान लिया। प्रधान की सब बातें सुन कर, सेठ ने प्रधान से कहा, कि कोई चिन्ता की बात नहीं है। सब कुछ अच्छा ही होगा। अब जब तक राजा की कोप-दृष्टि न मिट जावे, तब तक आप इसी घर में रहिये, किसी प्रकार का संकोच न करिये। आपने मुझे सच्ची बातों से परिचित कर दिया है, इसलिए परिणाम भी अच्छा ही होगा।

प्रधान को, सेठ की बातों से बहुत धैर्य मिला। वह, सेठ के यहाँ ही रहा। दूसरे दिन सेठ राजा के पास पहुंचा। राजा से, सेठ ने अपने आने की सूचना कराई। राजा ने विचारा कि यह सेठ अपने यहाँ कभी कभी ही आता है, और जब भी

आता है, किसी न किसी काम से। आज भी यह किसी काम से ही आया होगा। इस प्रकार विचार कर, राजा ने सेठ को अपने पास बुलाया। उचित शिष्टाचार और थोड़ी बहुत इधर-उधर की बातों के पश्चात् सेठ ने प्रधान का किस्सा छेड़ा। सेठ ने राजा से कहा, कि प्रधानजी के विषय में बहुत से समाचार सुनने में आते हैं, और मालूम हुआ है, कि आप प्रधानजी पर रुष्ट हैं तथा प्रधानजी भी भाग गये हैं, सो क्या ये बातें सच्चीहैं? राजा ने उत्तर दिया—हाँ सेठ, प्रधान बड़ा बेईमान निकला। उसने राज्य का बहुत नुकसान किया और अब भाग गया है, लेकिन भाग कर कहाँ जावेगा! जहाँ होगा, वहाँ से पकड़वा मँगवाऊँगा और उसे दण्ड दूँगा।

सेठ—अपराधी को दण्ड तो मिलना ही चाहिए और आप के हाथ भी बड़े हैं, प्रधानजी भाग कर कहाँ जावेंगे, परन्तु प्रश्न यह है, कि प्रधान के बिना राज्य का प्रबन्ध कौन करेगा?

राजा—दूसरा प्रधान लावेंगे!

सेठ—यदि दूसरा प्रधान भी ऐसा ही बेईमान निकला तो?

राजा—उसकी जाँच करेंगे, तब रखेंगे।

सेठ—मेरी प्रार्थना यह है, कि जब आप उस नये प्रधान की जाँच करेंगे, तो पुराने प्रधान की ही जाँच क्यों न कर ली जावे? पुराने प्रधान के जिन-जिन कामों के विषय में शिकायत

है, उन-उन कामों की कागज-पत्र आदि से जाँच कर ली जावे, जिसमें मालूम तो हो जावे कि वास्तव में प्रधान की बेईमानी है, या नहीं! प्रधानजी मेरे मित्र थे, वे प्रायः नित्य ही मुझे मिला करते थे और दरबार में जो काम करते उनका भी जिकर किया करते थे। प्रधानजी के कार्यों का बहुत समाचार मुझे भी मालूम है, इसलिए मैं भी इस जाँच में कुछ सेवा दे सकूँगा।

राजा को सेठ की बात ठीक जँची। उसने प्रधान के विरुद्ध लगाये गये सब अभियोगों, सेठ को बतलाये। सेठ ने एक एक अभियोग के लिए राजा से कहा, कि इस अभियोग के विषय में प्रधानजी ने मुझ से यह कहा था, कि अमुक फाइल में—या अमुक वही में—सब खुलासा है। सेठ के कथनानुसार, राजा ने फाइल और बहियें देखी, तो उसमें प्रधान की कोई बेईमानी मालूम नहीं हुई। कुछ अभियोगों के लिए सेठ ने कहा कि यह प्रधानजी से गल्ती हुई। प्रधानजी मुझसे भी कहते थे, कि अमुक काम में मेरे से अमुक गल्ती हो गई है। इतना बड़ा राजकाज चलाने वाले से यदि ऐसी गल्ती हो जावे तो कोई आश्चर्य या बेईमानी की बात तो नहीं हो सकती।

इस प्रकार धीरे-धीरे सेठ ने राजा के सामने प्रधान को, सभी अभियोगों में निर्दोष सिद्ध कर दिया। राजा को मालूम हो गया कि प्रधान निर्दोष है; और पिशुन लोगों ने मुझ से प्रधान की झूठी बातें कह कर, मुझे प्रधान पर कुपित किया है। मैंने भी

मूर्खतावश विना जाँच किये ही प्रधान को पकड़ने की आज्ञा दे दी। अच्छा हुआ जो प्रधान भाग गया, नहीं तो मैं उसकी बहुत खराबी करता !

राजा, सेठ से कहने लगा—कि आपने बहुत अच्छा किया, जो ये सब बातें बतला दीं और प्रधान को निर्दोष सिद्ध किया। वास्तव में प्रधान निर्दोष एवं ईमानदार है, बेईमान लोगों की बातों में पड़ कर ही मैंने उसकी प्रतिष्ठा पर हाथ डाला है, लेकिन अब क्या हो सकता है ! जो होना था, वह हो चुका। अब तो केवल यह प्रश्न है कि प्रधानजी को पुनः किस प्रकार प्राप्त किया जावे। सेठ ने उत्तर किया कि यदि आप मुझे और प्रधानजी को क्षमा करें, और प्रधानजी की प्रतिष्ठा को जो धक्का पहुंचा है, उनका सम्मान बढ़ा कर उस क्षति की पूर्ति करें, तो मैं प्रधानजी को ढूँढ़ लाऊँ। राजा ने यह बात स्वीकार की, तब सेठ ने कहा कि प्रधानजी मेरे ही यहाँ हैं, आप पधारिये।

सेठ के साथ, हाथी घोड़े आदि सहित राजा, प्रधान को लाने के लिए सेठ के घर को चला। नगर में भी हल्ला हो गया, कि राजा, प्रधान को लाने जा रहे हैं, इससे नगर के लोग भी राजा के साथ हो गये। गाजे बाजे से राजा, सेठ के घर पहुंचा सेठ ने घर में जा कर प्रधानजी से कहा कि चलिये, आपको राजा लेने के लिए आये हैं। सेठ की यह बात सुन कर, प्रधान घबराया। वह समझा, कि राजा मुझे पकड़ने आये हैं ! उसने

सेठ से कहा, कि क्या आप मुझे पकवा देंगे? सेठ ने उत्तर दिया—नहीं, आप घबराइये मत, राजा आपको सम्मानपूर्वक लेने के लिए आये हैं, और द्वार पर हाथी लिये खड़े हैं। राजा ने आपको निरपराधी पाया, इसी का यह परिणाम है।

सेठ की बात से, प्रधान को प्रसन्नता हुई। वह बाहर आकर राजा से मिला। राजा ने, प्रधान को हाथी पर बैठा कर शहर में घुमाया, तथा पुनः प्रधान पद प्रदान किया।

यह दृष्टान्त देकर, श्री जम्बू महाराज ने अपनी रानियों से पूछा—प्रिये, तुम्हारी दृष्टि में, प्रधान के तीनों मित्र में से कौन सा मित्र अच्छा था? जम्बू महाराज की रानियों ने उत्तर दिया कि पहला नित्य-मित्र तो किसी काम का ही नहीं था। ऐसे मित्र का तो मुँह भी न देखना चाहिए। वह तो मित्र नहीं, किन्तु मित्र के रूप में नीच शत्रु था। दूसरा पर्व मित्र, मध्यम है। उसने नीच नित्य-मित्र की तरह अशिष्ट व्यवहार तो नहीं किया, लेकिन मित्रता का पालन भी नहीं किया। तीसरा सैन-जुहारी मित्र, उत्तम है। उसने, मित्रता का पालन करके संकट के समय मित्र की सहायता की।

जम्बू स्वामी कहने लगे, कि उस प्रधान की ही तरह, मैंने भी अपने तीन मित्र बना रखे हैं। पहला नित्य-मित्र, यह शरीर है। इस शरीर को नित्य ही नहलाता-धुलाता सजाता पहनाता

और खिलाता पिलाता हूँ। मैं इसे दूसरा नहीं समझता। लेकिन जब कर्म रूपी राजा बदलता है, जब वृद्धावस्था या रुग्णावस्था आती है, तब, सबसे पहले वह शरीर ही धोखा देता है। उस समय यह शरीर, पत्थर मारने ऐसे काम करता है। दूसरा मित्र, कुटुम्ब-परिवार है, जिसमें तुम लोग भी सम्मिलित हो । यद्यपि तुम लोग अभी मुझसे इतना प्रेम करती हो लेकिन जब कर्म रूपी राजा, मुझसे बदल कर मेरा शत्रु बनेगा, तब क्या तुम लोग, मेरी किसी प्रकार की सहायता कर सकोगी ? उस समय, पर्व मित्र की तरह यह तो न कहोगी, कि भूख हो, तो भोजन करा दें; दवा चाहो, तो दवा का प्रबन्ध कर दें, या हम अपने आभूषण दे दें ! क्या उस समय तुम मेरी रक्षा कर सकोगी ? मुझे कोई सहायता पहुंचा सकोंगी ? कदापि नहीं।

मैंने अपना तीसरा मित्र, सुधर्मा स्वामी को बना रखा है। यद्यपि सुधर्मा स्वामी हैं सैन–जुहारी मित्र ही, उनसे नित्य-मित्र और पर्व-मित्र की तरह कोई विशेष व्यवहार नहीं है, फिर भी उन्होने मुझे ऐसा उपाय बताया, कि जिसके करने पर मैं, कर्मरूपी शत्रुओं से लड़ सकता हूँ और उन पर विजय प्राप्त कर सकता हूँ । उनने मुझे सिखाया है, कि तेरे आत्मा में जो कमी है, तेरे में जो अनाथता है उसे निकाल, फिर तेरा कोई कुछ नहीं बिगाड़ सकता। उन्होंने मुझसे कहा है, कि तेरा मित्र भी तू ही है और तेरा शत्रु भी तू ही है !

तात्पर्य यह, कि मित्र वही होता है, जो संकट के समय काम आये। जम्बू महाराज के कहे हुए दृष्टान्त में, प्रधान पर लौकिक संकट था, इसलिए लौकिक मित्र ने सहायता की, लेकिन पारलौकिक संकट के समय, लौकिक मित्र सहायता नहीं कर सकता। उस समय, अपना आत्मा ही अपनी सहायता कर सकता है। क्योंकि, परलोक में, इसका मित्र यही है, दूसरा नहीं। आत्मा स्वयं का मित्र बन कर, स्वयं की सहायता तभी कर सकता है, जब वह स्वयं की मित्रता के कार्य करता हो। संकट के समय सहायता करे, वही मित्र है और जो संकट के समय काम न आवे, किन्तु संकट बढ़ा दे, वहीशत्रु है।

अच्छे काम में लगा हुआ आत्मा, स्वयं का मित्र, तथा सुप्रतिष्ठ है और बुरे काम में लगा हुआ आत्मा, स्वयं का शत्रु तथा दुष्प्रतिष्ठ है। उदाहरण के लिए, एक ने अपने कानों से, शास्त्र-श्रवण किया और दूसरे ने, वैश्या का गाना सुना। इन दोनों में से, शास्त्र श्रवण करनेवाला आत्मा, स्वयं का मित्र एवं सुप्रतिष्ठ बना और वैश्या का शृङ्गार रस पूर्ण गाना सुननेवाला आत्मा अपने आपका शत्रु एवं दुष्प्रतिष्ठ बना।

आत्मा को प्राप्त-इन्द्रिय मन और बुद्धि साधनों से, दोनों ही प्रकार के काम किये जा सकते हैं। यानी ऐसे अच्छे काम भी क्रिये जा सकते हैं, जिनसे आत्मा स्वयं का मित्र और सुप्रतिष्ठ बने, और ऐसे बुरे काम भी किये जा सकते हैं, जिनसे

आत्मा, स्वयं का शत्रु एवं दुष्प्रतिष्ट बने। इन्द्रिय, मन, और बुद्धि के कामों पर से ही, आत्मा, मित्र, शत्रु दुष्प्रतिष्ठ सुप्रतिष्ठ और सनाथ या अनाथ बनता है।

सनाथ बने हुए व्यक्ति को, कभी दुःख या कष्ट तो होते ही नहीं। सांसारिक लोग जिन्हें घोर से घोर कष्ट समझते हैं, उन कष्टों के समय में भी, सनाथ बना हुआ व्यक्ति, हँसता ही रहता है। शरीर से, चर्म खींचे जाने पर भी, सनाथ बने हुए व्यक्ति को दुःख नहीं होता। वह तो यही समझता रहता है कि यह सब, मैंने ही—मेरे लिए—किया है, इसमें सुख या दुःख मानने की कौनसी बात है! सुख दुःख मानने से, कष्ट के समय रोने एवं सुख के समय हँसने से तो और हानि है, तथा यही अनाथता बढ़ाने या अनाथता में डालने का कारण है। मैं, सनाथ तभी हूँ, जब दुःख के समय भी हँसता रहूँ! दुःख को भी सुख मानने से तथा दुःख के समय भी हँसते रहने से, आत्मा की रही सही अनाथता भी दूर होगी। इस प्रकार विचार कर, सनाथ बना हुआ व्यक्ति, मृत्यु के समय भी हँसता रहता है दुःख नहीं करता। वह जानता है कि किसी भी समय रोने से कुछ लाभ नहीं है, किन्तु ऐसा करना, आत्मा को अनाथ बनाना है। उसको, इस बात पर विश्वास रहता है, कि आत्मा और शरीर, तलवार और म्यान की भाँति, भिन्न-भिन्न हैं। 'मैं' आत्मा हूँ, शरीर, नहीं हूँ। शरीर को चाहे कोई कितना ही कष्ट दे, उससे मेरा कुछ नहीं बिगड़ सकता। मैं तो व्रती ही हूँ,

जिसे कोई कष्ट दे ही नहीं सकता। मौत भी मेरा कुछ नहीं बिगाड़ सकती है, क्योंकि मैं अमर हूँ। सनाथ बना हुआ व्यक्ति गीता के कहे हुए निम्न श्लोक को बिलकुल ठीक मानता है। गीता में कहा है:—

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥
अच्छेद्योऽयमदाह्यो ऽयमक्लेद्यो ऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥

अध्याय २ रा।

अर्थात्—यह आत्मा, शस्त्र से नहीं कट सकता, इसे आग नहीं जला सकती, यह पानी से नहीं भीग सकता और इसे हवा नहीं सुखा सकती। यह अछेद्य है, कट नहीं सकता, न जलाया, भिगोया या सुखाया ही जा सकता है। यह नित्य, व्यापक, स्थिर अचल और सनातन—यानी सदा रहने वाला है।

अनाथता को त्यागकर, सनाथ बनना ही आत्मा-तत्व को समझ कर उसके अनुसार आचरण करना है। जो आत्म-तत्व को जान चुका, वह न तो किसी को भय देता ही है, न किसी से भयभीत ही होता है। वह, हर्ष अमरोष आदि सब से परे रहता है। गीता में कहा है—

समः शत्रौ च मित्रौ च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्ण सुख दुःखेषु समः संग विवर्जितः ॥
तुल्यनिन्दास्तुति मौनी सन्तुष्टो येनकेनचित ।

अध्ययन १२ वाँ

अर्थात्—जो शत्रु, मित्र, मान, अपमान, सर्दी गर्मी, और सुख तथा दुःख में समान भाव रखता है, जो वासना-रहित है, जो निन्दा स्तुति में तुल्य भावना रखता है और जो मौनी है, वही अनाथ है।

ये, सनाथ बने हुए व्यक्ति के लक्षण हैं। इन लक्षणों से ही सनाथ व्यक्ति पहचाना जाता है।

यद्यपि सनाथी मुनि के उपदेश को सुनकर, राजा श्रेणिक, अनाथता देने वाली वस्तुओं को त्याग न सका, लेकिन उसकी यह श्रद्धा अवश्य हो गई; कि ये वस्तुएँ अनाथता देने वाली हैं। अब तक, वह इन्हीं वस्तुओं को, सनाथ बनाने वाली मानता था, मनुष्य-जन्म को, भोग के लिए जानता था और संयम को, मनुष्य-जन्म का दुरुपयोग एवं अपमान समझता था। लेकिन अब उसकी, श्रद्धा, इसके विपरीत हो गई। अब वह, इन वस्तुओं के वास्तविकरूप को समझने लगा है। अब उसकी श्रद्धा, शुद्ध हो गई है।

शास्त्रकारों का कथन है, कि कल्याण साधने में, श्रद्धा का शुद्ध होना आवश्यक है। श्रद्धा के अनुसार आचरण करना, न

करना, अपनी अपनी शक्ति पर निर्भर है, लेकिन श्रद्धा तो शुद्ध ही होनी चाहिए। श्रद्धा शुद्ध होने पर, यदि परिस्थिति वश किसी बुरे कार्य में प्रवृत्त होना भी पड़ा, तो शुद्ध श्रद्धा वाला उस कार्य को समझेगा बुरा ही, और शुद्ध श्रद्धा के अभाव में, वह बुरा कार्य भी अच्छा मालूम होगा। जो आदमी, बुरे कार्य को बुरा ही, समझता है, उससे वह बुरा कार्य कभी छूट सकना सम्भव है, लेकिन जो बुरे काम को बुरा ही नहीं समझता, वह उसे क्यों छोड़ेगा ? शुद्धाचरण करना, प्रत्येक की शक्ति से परे की बात है, प्रत्येक आदमी, ऐसा करने में समर्थ नहीं हो सकता है लेकिन शुद्ध श्रद्धा, प्रत्येक आदमी धारण कर सकता है। शुद्ध श्रद्धा के होने पर, शुद्धाचरण दुर्लभ नहीं माना जाता, लेकिन अशुद्ध श्रद्धा के होने पर, शुद्धाचरण दुर्लभ है। और यदि व्यवहार दृष्टि से किसी में शुद्धाचरण हुआ भी, तब भी, तात्विक दृष्टि से तो वह अशुद्धाचरण ही है। इसी कारण शास्त्र में कहा है—

सद्धा परम दुल्लहा ।

अर्थात्—श्रद्धा होना बहुत दुर्लभ है।

राजा श्रेणिक की श्रद्धा, अब तक अशुद्ध थी, लेकिन अब शुद्ध होगई। इस शुद्ध श्रद्धा से—संयम न ले सकने पर भी—राजा श्रेणिक ने, तीर्थङ्कर गोत्र बाँध लिया। इसलिए प्रत्येक मनुष्य के लिए, शुद्ध श्रद्धा धारण करना, उचित एवं आवश्यक है। जब तक श्रद्धा शुद्ध न हो, तब तक कैसा भी ऊँचा धर्म

क्यों न हो, प्राप्त नहीं हो सकता, परन्तु शुद्ध श्रद्धा होने पर, ऊँचे धर्म को प्राप्त करना, कोई कठिन कार्य नहीं है।

आत्मा को, यह सर्वोत्तम मनुष्य शरीर, बड़े पुण्य से प्राप्त हुआ है। यह शरीर प्राप्त होने से पूर्व, आत्मा ने, न मालूम कौन कौन-से शरीर धारण किये थे, और न मालूम कैसे-कैसे कष्टों को सहा था। अनन्त काल तक, अन्य अन्य शरीर धारण करते रहने के पश्चात्, इसे यह शरीर प्राप्त हुआ है।

यह मनुष्य शरीर, कैसा उत्कृष्ट है, यह बात तभी मालूम हो सकती है, जब इसकी तुलना दूसरे जीव के शरीर से की जावे। किसी वस्तु की विशेष कीम्मत तभी मानी जाती है, जब वह वस्तु, अन्य वस्तुओं की अपेक्षा श्रेष्ठ प्रतीत हो। इसी प्रकार, मनुष्य शरीर की विशेषता भी तभी ज्ञात हो सकती है, जब इसकी तुलना, पशु, पक्षी आदि के शरीर से करके देखी जावे। वैसे तो, आँख, नाक कान, आदि पशु के भी होते हैं और मनुष्य के भी, बल्कि मनुष्य की अपेक्षा पशु के बड़े होते हैं, फिर भी पशु-शरीर की अपेक्षा, मनुष्य-शरीर बड़ा ठहरता है। क्योंकि, पशु में, विवेक नहीं है। पशु-शरीर और पशु की इन्द्रियाँ, विवेक-रहित हैं। लेकिन मनुष्य में विवेक है, मनुष्य-शरीर और मनुष्य की इन्द्रियाँ, विवेक सहित हैं। विवेक-अपना लाभ-हानि विचार कर सकने की शक्ति-होने से, मनुष्य-शरीर, अन्य समस्त जीवों के शरीर से उत्कृष्ट माना जाता है।

ऐसा उत्कृष्ट शरीर प्राप्त होना, कम पुण्य की बात नहीं है।

मनुष्य शरीर प्राप्त होना तो बड़े पुण्य का फल है ही, लेकिन स्वास्थ्य, एवं सर्वाङ्ग सम्पन्न मनुष्य-शरीर का प्राप्त होना, और भी महान् पुण्य का फल है। क्योंकि मनुष्य-शरीर पाकर भी बहुत से लोग, अँधे, बहरे, गूँगे, या पंगु आदि होते हैं। बहुत से मनुष्य, जन्मजात पागल, बुद्धिहीन या और किन्हीं रोगों से घिरे होते हैं। यदि ऐसे लोगों में पुण्य की कमी न होती, तो इस प्रकार का क्यों होना पड़ता? उनमें पुण्य की कमी है, स्वस्थ एवं सर्वाङ्ग-सम्पूर्ण मनुष्य की अपेक्षा, वे, कम पुण्यवान हैं, तभी वे, अङ्गहीन या रोगी हैं। इस-प्रकार, पशु-शरीर की अपेक्षा मनुष्य-शरीर उत्तम है और अस्वस्थ एवं अङ्गहीन मनुष्य-शरीर की अपेक्षा स्वस्थ एवं सर्वाङ्ग-सम्पूर्ण मनुष्य-शरीर, बड़े पुण्य से प्राप्त हुआ है, यह बात स्पष्ट है।

अब देखना यह है, कि ऐसा सर्वोत्तम मनुष्य-शरीर पाकर करना क्या चाहिए? यदि इसे खाने-पीने या विषय-भोग में ही लगा दिया, तब तो इसे उत्कृष्ट माने जाने का कोई कारण नहीं रहता। क्योंकि, यह कार्य्य तो पशु-शरीर से भी हो सकता है। बल्कि इस विषय में, मनुष्य की अपेक्षा पशु, कहीं बढ़े हुए होते हैं। इसलिए खाने-पीने और दुर्विषय भोग में लगने के कारण मनुष्य-शरीर उत्कृष्ट नहीं माना जा सकता। मनुष्य-शरीर, इस-

लिए उत्कृष्ट माना जाता है, कि इस शरीर को पाकर, आत्मा, अपने आप को सनाथ बना सकता है, जन्म-मरणसे मुक्त कर सकता है और समस्त कष्टों का अन्त करके, अक्षय सुख प्राप्त कर सकता है। यह न करके, यदि मनुष्य-शरीर को सांसारिक विषय-भोग में डाल दिया, तब तो इस उत्कृष्ट शरीर द्वारा वह काम किया, जो काम निकृष्ट माने जानेवाले पशु-पक्षी के शरीर में भी नहीं किया गया था। पशु-पक्षी के शरीर में तो आत्मा ने, शुद्ध परिणाम रखने की वह करणी की, जिससे यह मनुष्य-शरीर प्राप्त हुआ। लेकिन मनुष्य-शरीर पाकर, दुर्विषय-भोग में पड़ा हुआ आत्मा, वह करणी कर रहा है, जिससे नरक-निगोद में पड़े।

आत्मा को, मनुष्य-शरीर के साथ ही जो विवेक प्राप्त हुआ है, भोग प्रवृत्त होने वाला, इस विवेक का दुरुपयोग कर रहा है। यद्यपि विवेक द्वारा दुर्विषय-भोग से निवृत्ति के कार्य्य करने चाहिएँ, लेकिन दुर्विषय-भोग में प्रवृत्त आत्मा, विवेक द्वारा दुर्विषय-भोग में अधिकाधिक प्रवृत्त होने के कार्य्य करता है, विवेक को, भोग की सुविधा ढूँढने में लगाता है, अधिकाधिक भोग प्राप्त करने में लगाता है, तथा उस नीति को भंग करने में लगाता है, जिस नीति का पालन पशु भी करते हैं। मनुष्य-शरीर भोग से निवर्तने के लिए है, भोग में प्रवृत्त होने के लिए नहीं। भोग में प्रवृत होना, मनुष्य-शरीर के ध्येय के बिलकुल विपरीत है।

सनाथी मुनि ने, अनाथता सनाथता का जो वर्णन किया है। उससे यह बात सिद्ध हो चुकी, कि सांसारिक-वैभव तथा भोगादि में पड़ने पर, यह आत्मा सनाथ होता है और इनसे निवर्त कर संयम लेने पर सनाथ होना है। यदि कोई आदमी, सर्वविरति संयम न ले सके और देशविरति संयम ले, तब भी वह, सनाथता के मार्ग का अनुसरण करनेवाला है और कभी पूर्ण सनाथ भी बन सकता है। अनाथ आत्मा, निरन्तर दुःख ही भोगता रहता है, और सनाथ आत्मा, दुःख-मुक्त हो जाता है। सनाथता अनाथता का यह भेद, मनुष्य ही समझ सकता है और मनुष्य ही अनाथता से निकलकर सनाथ हो सकता है। मनुष्य होकर भी यदि अनाथता सनाथता के भेद को न समझ, अनाथता से निकल कर सनाथ होने की चेष्टा न की, तो कहना चाहिये कि उसने दुर्लभ मनुष्य-जन्म का वास्तविक लाभ नहीं लिया। तात्पर्य यह, कि मनुष्य-शरीर में विवेक एकम् अनाथता से निकल कर सनाथ बनने की क्षमता है, इसी से यह उत्कृष्ट माना जाता है।

सनाथी मुनि ने, श्रेणिक राजा के समीप, यह तो सिद्ध कर दिखाया, कि असंयमी जीवन अनथतापूर्ण है। अर्थात्, संसार व्यवहार में रहना अनाथता है और संसार-व्यवहार त्याग कर संयम स्वीकर करना, सनाथता है। अब सनाथी मुनि यह बताते हैं, कि कोई आदमी संयम स्वीकार कर भी, किस प्रकार अनाथ हो जाते हैं।

इस दूसरी अनाथता-यानी संयम ले चुकने पर भी आने वाली अनाथता-का वर्णन सनाथी मुनि, कई अभिप्राय से करते हैं। एक अभिप्राय तो संयमी लोगों को सावधान करना है। उन्हें यह बतलाना है, कि तुम अनाथता से निकलने के लिए ही, संसार-व्यवहार त्याग कर साधु हुए हो, लेकिन यदि तुमने साधुता के नियमों का पालन न किया, साधु-नियम के पालने में असावधानी से काम लिया, या जिन पदार्थों को त्याग कर संयम लिया है, उन्हीं से फिर प्रेम किया, तो जिस अनाथता से छुटकारा पाने के लिए साधु हुए हो, उससे भी अधिक अनाथता में पड़ जाओगे।

इस वर्णन से, सनाथी मुनि का दूसरा अभिप्राय उन लोगों को उलाहना देना है, जो संयम लेकर संयम के नियमों का पालन नहीं करते हैं, संयम के नियम पालने में असावधानी रखते हैं, या संयम लेकर भी, त्यागे हुए पदार्थों में आसक्ति या उनकी कामना रखते हैं। जो लोग अनाथता को जानते ही नहीं, या जान कर सनाथ हो गये हैं, या सनाथ होने की चेष्टा कर रहे हैं, उन्हें तो उलहना देने का कोई कारण ही नहीं है। उलहना तो उसी को दिया जाता है, जो जान बूझ कर बुरे काम करता है।

इस दूसरी अनाथता के वर्णन का तीसरा बहुत बड़ा अभिप्राय, जनता को सावधान करना है। सनाथी मुनि, राजा श्रेणिक को यह बताते हैं कि यद्यपि संयम लेना, सनाथता को

अपनाना है और इस कारण अनाथ लोगों की दृष्टि में संयमी पूज्य है, लेकिन संयम लेने वालों में भी, कई अनाथ ही होते हैं। बल्कि ऐसे अनाथ होते हैं, जैसा अनाथ, संयम न ले सकने वाला भी नहीं होता।

संयम लेकर सनाथ बने हुए और संयम न लेकर भी अनाथ बने हुए व्यक्ति, वेश-भूषा में समान हो सकते हैं, लेकिन गुणों में समान नहीं हो सकते हैं। सनाथता गुणों में है, केवल वेश-भूषा में ही नहीं है। यद्यपि आदरणीय वेश भी है, लेकिन तब, जब गुण-युक्त हो। गुण रहित वेश की पूजा करना, भगवान् महावीर का सिद्धान्त नहीं है।

अनाथता से निकल कर सनाथ बनने वाले संयमी को, जनता, अपना गुरु मानती है और अपने पारलौकिक जीवन की नाव को, उसके सहारे छोड़ देती है। लेकिन जब तक आचार विचार से यह विश्वास न कर लिया जावे, कि यह वास्तव में सनाथ है इसके पहले अपना आत्मा उसे सौंप देना, केवल अन्ध विश्वास है। संयमी को अपना गुरु, इसीलिए माना जाता है, कि वे सांसारिक बन्धनों को त्याग कर सनाथ बने हैं, लेकिन उन्होंने वास्तव में सांसारिक बन्धनों को त्यागा है या नहीं, जिस संयम में दीक्षित हुए हैं, उसके नियमों का पालन करते हैं, या नहीं, यह जानना आवश्यक है। यह पहचान, केवल वेश से नहीं हो सकती। वेश में तो सनाथ और अनाथ, ऐसे दोनों ही

प्रकार के रहते हैं। वेशधारी परन्तु अनाथ संयमी को अपना आत्मा सौंप देने से, लाभ के बजाय हानि है। सनाथ और अनाथ वेशधारी की पहिचान कैसे हो सकती है अनाथ वेशधारी के प्रधान लक्षण क्या हैं, यह बात सभी लोग नहीं जानते। सनाथी मुनि, इस प्रकार के अनाथ लोगों की पहिचान कराने के लिए ही, इस दूसरी अनाथता का वर्णन करते हैं।

आज कल, साधु-वेश रख कर असाधुता के काम करने वाले लोगों की कमी नही है। सनाथी मुनि ने, इस दूसरी अनाथता का वर्णन, लगभग ढ़ाई हजार वर्ष पहले किया है, इससे प्रकट है, कि ऐसे लोग उस समय भी थे। तुलसीदासजी ने भी ऐसे लोगों के लक्षण बताकर, उनकी निन्दा की है। उन्होंने कहा है—

जे जन्मे कलिकाल कराला, कर्तब वायस वेष मराला।
बंचक भक्त कहाइ राम के; किंकर कंचन कोह काम के॥

अर्थात्—कराल कलियुग में जन्मने वाले लोग, काम तो कौए के करते हैं और वेश हंस का रखते हैं। वे ठग, राम के भक्त कहा कर भी काम क्रोध एवम् द्रव्य के गुलाम बने रहते।

तात्पर्य यह कि मुनि-वेश में ऐसे लोगों की भी कमी नहीं है, जो साधु कहला कर भी; असाधुता के काम करते हैं। एक

ही वेश में, दोनों प्रकार के व्यक्ति रहते हैं, इसलिए पहचान कठिन हो जाती है। उनकी पहचान कराने के लिए ही, सनाथी मुनि, इस दूसरी अनाथता का वर्णन करते हैं।

इस दूसरी अनाथता को समझना भी, जनता का कर्त्तव्य है। इससे मुख्य लाभ तो यह है कि कुगुरु सद्गुरु का निर्णय हो जाता है। यह वेशधारी, वास्तव में निर्ग्रन्थ धर्म का अनुयायी–निर्ग्रन्थ धर्म का पालन करने वाला है, या नहीं! यह बात मालूम हो जाती है। यह मालूम होने से, जनता अनेक हानियों से भी बच जाती है। उदाहरण के लिए, एक व्यक्ति साधु-वेशधारी है। उस व्यक्ति का आचरण देखकर नहीं, किन्तु केवल वेश के कारण विश्वास किया गया, इसलिए उसके द्वारा किसी भी समय, धन, जन, प्रतिष्ठा और धर्म की हानि हो सकती है। यदि वेश के साथ ही, उसके आचरण के सम्बन्ध में भी विश्वास कर लिया जावे, तो फिर ऐसी हानि की आशंका नहीं रहती। इसलिए सनाथी मुनि द्वारा वर्णित, दूसरी अनाथता के लक्षणों को ध्यान में रख कर, इन लक्षणों पर से संयम-वेशधारी अनाथ को पहचान लेना, जनता के लिए, प्रत्येक दृष्टि से हितकारी है।

कुछ लोगों ने, यह सिद्धान्त बना रखा है, कि 'अपने-यानी साधु साध्वियों के–चरित्र सम्बन्धी शास्त्राज्ञा से, गृहस्थ को परिचित न किया जावे। परिचित कर देने पर, गृहस्थ लोग

अपने को पद-पद पर टोकेंगे, इससे अपनी मनमानी न चल सकेगी।' इस प्रकार के विचार से, कई लोग, साधु के आचार से गृहस्थों को अपरिचित रखते हैं, लेकिन ऐसा करना, उनकी संयम पाल सकने की अक्षमता के सिवा और कुछ नहीं कहला सकता। जो संयम पालने में वीर होगा, वह, इस प्रकार का सिद्धान्त कभी न बनावेगा। वह तो सनाथी मुनि द्वारा वर्णित, इस दूसरी अनाथता को जनता के सन्मुख विस्तृत रूप में रख कर, यह घोषणा करेगा, कि अनाथता के इन लक्षणों में से, यदि कोई लक्षण हम पर घटता हो, तो हमें उलाहना दो और ऐसा उपाय करो, कि हम में से अनाथता का वह लक्षण मिट जावे।

कई आदमी, गृह-संसार त्याग कर और संयम को अपना कर भी, अनाथता में पड़ जाते हैं। संयम लेकर भी अनाथता में कैसे पड़ते हैं, और फिर अनाथता में पड़ना कितना एवं कैसा बुरा है यह बताने के लिए, सनाथी मुनि कहते हैं—

इमा हु अण्णा वि अणाहया निवा, तमगचित्तो निहुओ सुणेहि।
नियण्ठधम्मं लहियाण वी जहा, सीयन्ति एगे बहु कायरानरा ॥३८॥

भावार्थ—हे राजा, एक अनाथपना और है, जिसे तुम स्थिर चित्त सुनो। सनाथ बनाने वाले निर्ग्रन्थ-धर्म को प्राप्त करके भी, बहुत से कायरलोग पतित हो जाते हैं और निर्ग्रन्थपने में दुःख पाते हैं।

सनाथी मुनि कहते हैं—हे राजा, निर्ग्रंथ-धर्म शूद्रों द्वारा पाला जा सकता है। इसे कायरलोग नहीं पाल सकते, लेकिन बहुत-से कायरलोग, निर्ग्रन्थ धर्म स्वीकार करके, घर-बार, कुटुम्ब संसार आदि छोड़ भी देते हैं, संयति का वेश भी पहन लेते हैं, रजोहरण एवं मुखवस्त्रिका आदि भी धारण कर लेते हैं और फिर कामना-पूर्ण न होने पर, साधुपने में दुःख पाते हैं।

कई लोग क्षणिक आवेश में, सनाथ बनने की क्षणिक भावना से प्रेरित होकर, संयम ले लेते हैं। कई, संसार-व्यवहार का भार सहन न कर सकने के कारण, कमा कर खाने की अशक्तता के कारण, संयम ले लेते हैं। कई—

'नारि मुई गृह संपति नासी।
मूंड मुंडाय भये सन्यासी।'

इसके अनुसार, यानी स्त्री सम्पत्ति आदि के नष्ट हो जाने से, संयमी बन जाते हैं। कई साधुओं की प्रतिष्ठा देख कर, वैसी ही प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए, साधु-वेश पहन लेते हैं। इस-प्रकार बहुत से कायर लोग, भिन्न-भिन्न कारणों से संयम स्वीकार तो कर लेते हैं, लेकिन वास्तव में उन्हें सच्चा वैराग्य नहीं होता, आकांक्षा-रहित, संयम लेने की भावना नहीं होती, सनाथ बनने के परिपक्व विचार नहीं होते, इसलिए संयम में दीक्षित होने के पश्चात्, वे, पश्चाताप करते हैं, संयम में कष्ट

अनुभव करते हैं और कीचड़ में फँसे हुए हाथी के समान, दुःखी रहते हैं। ऐसे लोग, वीर नहीं, किन्तु कायर हैं। संयम लेकर संयम में दुःख मानना वैसी ही कायरता है, जैसी कायरता, घर से लड़ाई के लिए निकल कर फिर मरने में और घर से सती होने के नाम पर जीवित जलने के लिए निकल कर फिर अग्नि में जलने से भय करने में मानी जाती है। जिस प्रकार लड़ाई के लिऐ घर से निकला हुआ, मृत्यु से, भय न करने पर ही लोक व्यवहार में वीर माना जाता है, उसी प्रकार संयम लेकर उस में दुःख न मान कर सुख मानने वाला ही वीर है।

राजा, संयम लेकर फिर संयम में दुःख अनुभव करने वाला व्यक्ति, किसी भी ओर का नहीं रहता। न वह संसार-व्यवहार का ही रहता है, न संयम का ही। उसकी दशा, धोबी के कुत्ते की-सी होती है, जो न घर का ही होता है, न घाट का ही। इसी प्रकार, संयम लेकर फिर संयम में दुःख अनुभव करने वाले व्यक्ति का जीवन, संसार और संयम, दोनों की उलझन में ही बीत जाता है। न वह असंयमी ही रहता है, न संयम लेकर सनाथ ही बन पाता है। वह संसार की अनाथता से निकल कर, दूसरी अनाथता में पड़ जाता है, जो असंयम की अनाथता से भी बुरी होती है।

कायरलोग, संयम लेकर उसमें सांसारिक सुखों की इच्छा करते हैं। वे, अच्छा-अच्छा भोजन, मान-प्रतिष्ठा, अच्छे-अच्छे

वस्त्र आदि चाहते रहते हैं और जब इनकी प्राप्ति नहीं होती, तब वे संयम में दुःख मानते हैं। यद्यपि संयम लेने के समय, सांसारिक सुखों को त्याग चुके हैं, लेकिन कायरलोग, संयम में सांसारिक-सुख चाहते हैं, और उसे प्राप्त करने लिए, वे अपने संयम के ध्येय को भुला देते है। उन्हें यह ध्यान नहीं रहता, कि हमारा ध्येय क्या है, हम किस भावना को लेकर उठे हैं और संयग लेने के समय हमारा उद्देश्य क्या था। वे लोग, एक ओर तो सांसारिक सुख भी भोगना चाहते हैं, और दूसरी ओर, साधुपने की मान प्रतिष्ठा भी। यानी यह भी चाहते हैं, कि हमें कोई असंयमी भी न कहे, किन्तु संयमी मान कर सब हमारी पूजा-प्रतिष्टा करें और यह भी चाहते हैं, कि हमें संसार के समस्त सुख भी प्राप्त हों। इसके लिये, वे, प्रकट में तो साधु का वेश रखते हैं और परोक्ष में, सांसारिक-सुख प्राप्त करने के उपाय करते रहते हैं, तथा सांसारिक सुख न मिलने पर, अपने आपको कष्ट में मानते हैं। यदि वे, सांसारिक सुख-प्राप्त भी कर लेते हैं, तब भी उन्हें दुःख घेरे ही रहता है। उन्हें सदा यह भय बना रहता है, कि हमारे इस असंयमपूर्ण कुकृत्य का कहीं भण्डा न फूट जावे। भण्डा फूट जाने पर, हम अपमानित हो जावेंगे, इस आशंका से, वे, यह सोचते रहते हैं कि हमने संयम क्यों ले लिया! उन से संयम का वेश भी त्यागते नहीं बनता! ऐसा करने में, अपमान एवं निन्दा का भय है! इस प्रकार के कायर लोग संयम को ख मानते हैं और संयम से पतित भी हो जाते हैं!

अब सनाथी मुनि, संयम-पतित के लक्षण बताते हैं और यह बताते हैं, कि कायर लोग, संयम लेकर भी, असाधुता के कौन-कौन-से कार्य करते हैं। वे कहते हैं—

जो पव्वइत्ताण महव्वयाइं सम्मंच नो फासयई पमाया।
अनिग्गहप्पा य रसेसुगिद्धे न मूलओ छिन्दई बंधणंसे॥३६॥

भावार्थ—जो लोग, संयम लेकर भी, पंच महाव्रत को प्रमादवश सम्यक प्रकार नहीं स्पर्शते-पालन नहीं करते जो अपने आपको संथम में नहीं रख सकते, तथा रस लोलुप बने हुए हैं, वे, संसार-बंधन के मूल राग द्वेष-का छेदन नहीं कर सकते। यानी संसार में, जन्म-मरण किया ही करते हैं।

सनाथी मुनि कहते हैं—राजा! नाथ बनने के लिए उठकर फिर अनाथता में पड़ने वाले कायर लोग, संयम तो ले लेते हैं, लेकिन संयम में जिन पाँच महाव्रत का पालन करना आवश्यक है, उनका भली प्रकार पालन नहीं करते, किन्तु उसके पालन में, प्रमाद करते हैं। यद्यपि उन्होंने, घर संसार छोड़ कर संयम लेते समय, पंच महाव्रत पालने की प्रतिज्ञा की है, लेकिन वे कायर लोग, या तो अपनी प्रतिज्ञा भूल जाते हैं, या उसकी उपेक्षा करते हैं।

संयम लेने के समय, जिन पाँच महाव्रत की प्रतिज्ञा ली जाती है, उनमें से पहला महाव्रत 'अहिंसा' है। अहिंसा महा-

व्रत का पूर्णतया पालन तभी होता है, जब तन, मन या वचन द्वारा छः काय के जीवों में से, किसी भी जीव की तीनों करण से हिंसा न की जावे। इस महाव्रत की रक्षा के लिए, संयम लेने वाले लोग, आरम्भ को सर्वथा त्याग कर, निरारम्भी होते हैं। वे किसी भी प्रकार का आरम्भ, नहीं करते। दया, क्षमा, रक्षा, अक्रोध आदि का समावेश, अहिंसा की रक्षा के लिए, इन सद्गुणों के पालन का विशेष रूप से ध्यान रखते हैं।

सनाथी मुनि कहते हैं—राजा, कायर लोग, अहिंसा महाव्रत के पालन की प्रतिज्ञा तो करते हैं, लेकिन वे, अग्नी, पानी, आदि का आरम्भ भी करते हैं, लोगों से, लड़ाई-झगड़ा एवं निर्दयता का व्यवहार भी करते हैं, क्षमा को पास भी नहीं आने देते और बात-बात में क्रोध करते रहते हैं। ऐसा करने वाले अहिंसा महाव्रत का पालन करने वाले नहीं हैं। अहिंसा महाव्रत का पालन करने वाला, अपनी प्रतिज्ञा को कभी भी न भूलेगा, किन्तु यह ध्यान रखेगा, कि 'मैं' अहिंसा महाव्रत को स्वीकार करके संयम में प्रवजित हुआ हूँ, मैंने, संसार के सब जीवों को अपना मित्र माना है, फिर किसी जीव की हिंसा कैसे करूँ! किसी जीव के शरीर या मन को कैसे दुखाऊँ! किसी पर क्रोध कैसे करूँ! ऐसा करने पर मैं, अहिंसा महाव्रत का पालन करने वाला कैसे रह सकता हूँ!"

राजा, अहिंसा महाव्रत का पालन करने वाला, किसी दूसरे जीव को भी दुःख नहीं देता है और अपने-आप को भी दुःखी

नहीं करता है। ऐसे व्यक्ति को, चाहे कोई मारे, गाली दे अपमानित करे और घोर कष्ट देकर प्राण भी हरण करले, तब भी वह प्रसन्न ही रहता है। अपने आप को, दुःख में तो मानता ही नहीं, न प्रतिहिंसा या वैर विरोध के भाव ही हृदय में आने देता है। ऐसे समय में, अहिंसावादी विचारता है कि 'यह व्यक्ति जो मार रहा है या गाली दे रहा है, आत्म-स्वरूप को भूल कर, पतित हो रहा है, तथा हिंसा कर रहा है। यह दूसरे को दुःख देने वाला, अपने आत्मा को नीची दशा में गिरा कर ही, दूसरे को दुःख देता है। यदि इसका आत्मा, उर्ध्व दशा में होता, तो यह ऐसा करता ही क्यों! इसमें, काम क्रोध आदि दुर्गुण विद्यमान हैं, तभी तो यह ऐसा कर रहा है! यदि इसके साथ मैं भी ऐसा करने लगूँ, मैं भी अपने आत्मा को दुःखी करूँ, मैं भी अपने में, वैर-विरोध या क्रोध आने दूँ, तो हिंसा करने वाले में और मुझ अहिंसा का पालन करने वाले में, क्या अन्तर रहा! फिर मैंने, प्राणिमात्र से मित्रता का क्या व्यवहार किया! मुझे दुःख देने के नाम पर, यह, अपने आत्मा को दुःखित कर रहा है। यदि मैं भी इसी की तरह अपने आत्मा को दुःखित करूँ, जिसे यह दुःख मान रहा है, उसे ही मैं भी दुःख मानूँ, तो मैं सनाथ कैसा! फिरतो मैं भी इसी की तरह अनाथ हुआ!' इस प्रकार के विचार रख कर, अहिंसा महाव्रत का पालन करने वाला, आप स्वयं भी दुःखी नहीं होता, न किसी दूसरे को ही दुःखी करता है। वह तो, प्रत्येक दशा में, आन-

न्दित ही रहता है। कायर लोग, अहिंसा महाव्रत के पालन की प्रतिज्ञा लेकर भी, इसके विपरीत व्यवहार करते हैं। वे लोग, प्रकट या अप्रकट हिंसा करते हैं, लेकिन अपनी कायरता छिपाने के लिए, उस हिंसा को भी अहिंसा के ही अन्तर्गत बतालाते है और इस प्रकार अपने आपको, अहिंसक घोषित करते रहते हैं।

संयम लेने के समय स्वीकार किये जाने वाले, पाँच महाव्रत में दूसरा महाव्रत, सत्य है। इस सत्य महाव्रत का पूर्णतया पालन तभी होता है, जब, मन, वचन, और काया से झूठ का त्याग किया जावे। सत्य महाव्रतधारी, कभी और किसी भी दशा में, झूठ का प्रयोग नहीं करता। भय, क्रोध, हास्य आदि के वश हो कर भी, झूठ नहीं बोलता। संयम से प्रवर्जित व्यक्ति, झूठ तो बोलता ही नहीं, लेकिन ऐसा सत्य भी नहीं बोलता, जिसके कारण दूसरे को दुःख पहुंचे।

सनाथी मुनि कहते हैं—राजा, कायर लोग, प्रतिज्ञा करके भी, इस सत्य महाव्रत का पालन नहीं करते। झूठ को काम में लाने से किंचित् भी नहीं हिचकिचाते और ऐसा करके भी अपने आपको, सत्य महाव्रत का पालन करनेवाला बतलाते हैं!

तीसरा महाव्रत अदत्तादान त्याग है। कोई वस्तु चाहे वह किसी के अधिकार में हो या न हो—बिना किसी के दिये, लेना, अदत्तादान है। तीसरे महाव्रत का पालन करनेवाला, ऐसी कोई

भी वस्तु ग्रहण नहीं करता, जो किसी के द्वारा दी हुई न हो ! उसे यदि मार्ग पर की धूल की आवश्यकता होगी तो वह भी, किसी न किसी स्वीकृति से लेगा, बिना स्वीकृति न लेगा। वह विचारेगा, कि 'संसार की समस्त वस्तुओं पर से मैं अपना अधिकार उठा चुका हूँ। मेरे अधिकार में, केवल वे ही वस्तुएँ हैं, जो संयम की रक्षा के लिए आवश्यक हैं। इसलिए मैं, अपने अधिकार से परे की कोई वस्तु, बिना किसी के दिये, नहीं ले सकता। इस प्रकार के विचार से, वह अपने अधिकार से बाहर की, छोटी से छोटी और आवश्यक से आवश्यक वस्तु भी, बिना किसी के दिये, न लेगा। यहाँ तक कि वह अपने सहधर्मी एवं साथी संगी के अधिकार की वस्तु भी, बिना उसकी स्वीकृति के, अपने काम में, या अपने अधिकार में न लेगा। वह ऐसा कोई कार्य नहीं करता, जो शास्त्राज्ञा के विरुद्ध हो। उसको यह ध्यान रहता है, कि कहीं मुझे, देव, गुरु सहधर्मी और गाथा पति का अदत्त न लगे।

जिस काम के करने से शास्त्र रोकता है, उसे करना और जिसके करने को कर्त्तव्य बताता है, उसे न करना, देव-अदत्त है। गुरु, जो नियम बनावे, या जो आज्ञा दे, उसका पालन न करना, और उसके विरुद्ध करना, गुरु, अदत्त है। अपने साथी साधुओं के साथ विचर रहे हैं, उस समय भिक्षा में भोजन की कोई अच्छी वस्तु मिल गई और उसे अकेले ही खा लिया, साथी सहधर्मियों को उस वस्तु से वंचित रख दिया या उनकी स्वीकृति के बिना

उनकी कोई वस्तु ले ली, तो यह, सहधर्मी-अदत्त है। राजाज्ञा का भंग करना, यह राजा का अदत्त है और किसी सार्वजनिक या व्यक्ति विशेष के स्थान या पदार्थ को, गृहस्थ की आज्ञा बिना काम में लेना, गाथापति (गृहपति) का अदत्त है।

सनाथी मुनि कहते हैं—राजा, संयम लेकर भी, कायर लोग, इस तीसरे महाव्रत का पालन नहीं करते और फिर भी, अपने आपको अदत्तादान का त्यागी ही बतलाते हैं।

चौथा महाव्रत ब्रह्मचर्य है। इस महाव्रत के पालन में, अब्रह्मचर्य का सर्वथा त्याग करना पड़ता है। संयम में प्रवर्जित एवं इस महाव्रत का धारक, किसी भी प्रकार के मैथुन का सेवन नहीं करता। वह, इस सम्बन्धी उन समस्त नियमों के पालन का पूरा ध्यान रखता है, जो शास्त्र में बतलाये गये हैं, इस महाव्रत को धारण करनेवाला, केवल शरीर से ही नहीं, किन्तु मन और वचन से भी, मैथुन का चिन्तवन या सेवन नहीं करता।

सनाथी मुनि कहते हैं—राजा, कायर लोग, संयम लेकर भी इस चौथे महाव्रत का पालन नहीं करते। वे किसी न किसी रूप में मैथुन का सेवन करते रहते हैं, ब्रह्मचर्य्य की रक्षा के नियमों की अवहेलना करते हैं और ऐसा करके भी अपने आपको पूर्ण ब्रह्मचारी बतलाते हैं।

पाँचवा महाव्रत, अपरिग्रह है। इस महाव्रत में, परिग्रह का

बिलकुल त्याग किया जाता है। किसी वस्तु पर ममत्व रखने का नाम ही परिग्रह है, फिर वह चाहे सोना चाँदी हो या, कपड़ा कागज आदि। छोटी से छोटी, एवं बड़ी से बड़ी वस्तु—यदि उस पर ममत्व रखा तो वह परिग्रह में है। इस महाव्रत का पालन करनेवाला, और किसी वस्तु पर ममत्व रखना तो दूर रहा, अपने शरीर पर भी ममत्व नहीं रखता। उसके शरीर को, चाहे कोई क्षत-विक्षत कर डाले या नष्ट कर डाले, तब भी उसे चिन्ता नहीं होती। वह किसी भी छोटी या बड़ी—ऐसी वस्तु को अपने पास नहीं रखता, जिसकी संयम पालने में आवश्यकता न हो।

सनाथी मुनि कहते हैं—राजा, संयम लेकर भी, कायरों से वस्तु का महत्व नहीं छूटता। अपरिग्रह व्रत लेकर भी, वे, घर-बार, स्त्री, पुत्र, या शिष्य-शिष्या से ममत्व रखते हैं। उनसे, स्वीकार किये हुए अपरिग्रह व्रत का पालन नहीं होता, फिर भी वे, अपने आपको अपरिग्रही ही कहते हैं।

राजा, संयम लेने के समय पाँच महाव्रत को, तीन करण और तीन योग से पालन करने की प्रतिज्ञा ली जाती है, और हिंसा, झूठ, अदत्तादान, अब्रह्मचर्य्य और परिग्रह का, तीन करण तीन योग से त्याग किया जाता है। गृहस्थों द्वारा स्वीकार किये जाने वाले पाँच अणुव्रत में जो संकुचितपना रहता है, इन महाव्रतों में व्रत संकुचितपना नहीं है, किन्तु इनमें विशालता है। गृहस्थ लोग, इन व्रतों को स्थूल रूप में स्वीकार करते हैं और स्थूल

व्रत में भी आगार रखते हैं। वे, स्थूल अहिंसा व्रत स्वीकार करके, अपराधी को दण्ड देने, स्थूल सत्यव्रत स्वीकार करके बिना जानी बात के लिए झूठ का प्रयोग हो जाने, स्थूल अदत्तादान व्रत स्वीकार करके, अपने मित्र, भाई आदि की वस्तु बिना दिये लेने, स्थूल ब्रह्मचर्य्य व्रत स्वीकार करके, स्व स्त्री सेवन करने, स्थूल अपरिग्रह व्रत स्वीकार करके मर्यादित परिग्रह रखने का आगार रखते हैं, लेकिन संयम लेनेवाले, इन व्रतों को महाव्रत के रूप में स्वीकार करते हैं, तथा किसी भी प्रकार का आगार नहीं रखते। गृहस्थों के व्रत में, स्थूल एवं आगार की जो संकुचितता है, साधु उस संकुचितता से निकल जाता है। वह इन व्रतों को, सूक्ष्म रूप से स्वीकार करता है। गृहस्थ, दो करण तीन योग आदि भेदों से व्रत स्वीकार करता है लेकिन साधु तीन करण तीन योग से व्रत स्वीकार करते हैं।

राजा पंच महाव्रत को स्वीकार करके फिर उनका भली प्रकार पालन न करने वाले, उनके पालन में प्रमाद करने वाले, पासत्था कहलाते हैं। पासत्था लोग पंच महाव्रत के पालन में शिथिलता करते हैं, अर्थात् भली प्रकार पालन नहीं करते, किन्तु सांसारिक सुखों की चाह करते हैं और ऐसा करके भी अपने आपको साधु बतलाते हैं। यदि कोई उनसे पूछता है, कि तुम अपने आपको साधु कैसे कहते हो, तो वे कहते हैं, कि हमने पंच महाव्रत धारण किये हैं। लेकिन राजा, पंच महाव्रत धारण करने मात्र से साधु नहीं होता, साधु तो पंच महाव्रत का पालन करने से होता है।

सनाथ तभी तो हो सकता है, जब पंच महाव्रत का भली प्रकार पालन करे, प्रमाद न करे। पंच महाव्रत धारण करके भी जो उनका पालन नहीं करता है, वह पासत्था, एक अनाथता से निकल कर दूसरी अनाथता में पड़ जाता है।

राजा पासस्था का मन स्थिर नहीं रहता है। महाव्रतों का पालन तभी हो सकता है, जब मन चंचल न हो, किन्तु स्थिर हो। महाव्रतों का धारण तथा अव्रतों का त्याग, मन से किया जाता है। जब मन ही अस्थिर हो, तब की हुई प्रतिज्ञा का ध्यान एवं उसका पालन कैसे हो सकता है। मन के अस्थिर रहने से, वह पासत्था, जान बूझ कर भी महाव्रतों का उल्लंघन करता है, फिर भी वह स्वयं, महाव्रतों का उल्लंवन नहीं समझता।

अब सनाथी मुनि उन कार्यों का वर्णन करते हैं, जिनके करने से महाव्रतों का उल्लंघन होता है। वे कहते हैं—

आउराया जस्स य नत्थि काइ इरियाए भासाए तहेसणाए।

आयाण निक्खेव दुगुंछणाए न वीर जायं अणुजाइ मग्गं ॥४०॥

भावार्थ—वह (कायर) ईर्यासमिति, भाषासमिति, एषणा-समिति, आदानभाण्डपात्रनिक्षेपणसमिति और उच्चारपस्रवण-समिति में, तनिक भी यत्न नहीं रखता। यानी चलने, बोलने, आहारादि लेने, वस्त्र पात्रादि रखने, उठने एवं परठने-परठाने में, किंचित भी सावधानी नहीं रखता। ऐसा करने वाला कायर,

वीरों के मार्ग पर नहीं चल सकता।

शास्त्रकार कहते हैं, कि साधु, बिना कारण गमनागमन न करे, किन्तु अचल बनकर, काया को गोप कर रखे। मुनि को, चलने का अधिकार उसी समय है, जब आहारादि लाना हो, विहार करना हो, बैठे-बैठे शरीर को कष्ट होने लगा हो, मल मूत्र त्यागने को जाना हो और अपने गुरु आचार्य को वन्दना करनी हो या उनसे कुछ पूछना हो। ऐसे समय में भी, ईर्यासमिति का ध्यान रखना, आवश्यक है। मुनि का कर्त्तव्य है, कि चलने के समय, साढ़े तीन हाथ आगे की भूमि पर दृष्टि रखे, तथा और किसी भी ओर ध्यान न जाने दे, किन्तु इसी बात का ध्यान रखे, कि आगे कोई जीव-जन्तु तो नहीं है! चलने के समय मुनि का ध्यान दूसरी ओर जाने पर, चाहे मुनि के पाँव से कोई जीव मरे या न मरे, ईर्यासमिति भंग हो जाती है। क्योंकि दूसरी ओर ध्यान रखने पर, प्रतिक्रमण के समय, अपने गमानागमन, जीव मिलने-लगने आदि का वर्णन न कर सकना, स्वाभाविक है।

गमनागमन की तरह, शास्त्रकारों ने, साधु के लिए बिना काम बोलने एवं सावद्य भाषा का प्रयोग करने का भी निषेध किया है। साधु को, अकारण बोलना मना है। कारण सहित बोलने पर, साधु निर्वद्य भाषा ही बोल सकता है, सावद्य भाषा नहीं बोल सकता। साधु, जो कुछ भी बोले, वह, यतना सहित एवं ध्यान रखकर बोले, जिसमें प्रतिक्रमण के समय, बोली हुई

सब बातें याद आ जावें। यदि कोई साधु, इन बातों में असावधानी रखता है तो वह, भाषासमिति का उल्लंघन करता है।

ईर्यासमिति और भाषासमिति की ही तरह, मुनि को, एषणा समिति के पालन का ध्यान रखना भी आवश्यक है। आहार लेने की विधि को, एषणा समिति कहते हैं। शास्त्रकारों ने, साधु को, केवल उतना और वैसा ही आहार लेने की आज्ञा दी है, जितना आहार, जीवन के लिए आवश्यक हो तथा जो दूषित एवं विकार उत्पन्न करनेवाला न हो। शक्ति बढ़ाने, या शरीर को हृष्ट-पुष्ट करने के लिए आहार लेना, मुनि-धर्म से विरुद्ध है। मुनि केवल जीवन की रक्षा के लिए ही आहार ले सकता है, और वह भी, किसी एक घर से नहीं, किन्तु थोड़ा-थोड़ा अनेक घर से। एक ही घर से भिक्षा लेने का निषेध, अन्य ग्रन्थकार भी करते हैं। यति-धर्म की विधि बताते हुए अत्रि-स्मृति में कहा है—

चरेन्माधुकरीं वृत्ति मपि म्लेच्छकुलादपि ।
एकान्नं नैव भोक्तव्यं बृहस्पति समो यदि ॥

अर्थात्—यति, भँवर-वृत्ति का अवलम्बन लेकर चाहे म्लेच्छ के घर का भी अन्न ग्रहण करे, परन्तु एक के घर का अन्न कदापि न खावे, चाहे वह बृहस्पति के ही समान क्यों न हो।

अनेक घर से आहार लेने में भी, साधु को, इस बात की सावधानी रखनी चाहिए कि यह आहार, दोष-सहित एवं संयम

का बाधक तो नहीं है! जो साधु, इन नियमों का पालन नहीं करता, वह एषणासमिति को भंग करता है।

चौथी, आदानभाण्डमात्रनिक्षेपणसमिति है। वस्त्र, पात्र, उपकरणादि रखने उठाने की विधि को, आदानभाण्ड-मात्रनिक्षेपणसमिति कहते हैं। इस समिति का पालन करना भी, मुनि का कर्त्तव्य है। साधु को चाहिये, कि अपने वस्त्र पात्रादि रखने उठाने, और प्रतिलेखन करने में, यत्ना का विशेषरूप से ध्यान रक्खे। वस्त्र पात्रादि उठाने में, किसी जीव की हिंसा न हो जावे, इस बात की सावधानी रखना आवश्यक है। जो मुनि इसमें असावधानी रखता है, वह इस चौथी समिति को भंग करता है।

पाँचवीं, उच्चारप्रस्रवणआदिपरिस्थापनसमिति है। त्यागी जानेवाली वस्तु को त्यागने की विधि का नाम, उच्चार प्रस्रवणादिपरिस्थापन समिति है। साधु का कर्त्तव्य है, कि त्यागि जाने वाली वस्तु को त्यागने या परठने में यत्ना का पूरा ध्यान रखे। जो साधु इस ओर से असावधान रहता है, वह इस पाँचवीं समिति को भंग करता है।

सनाथि मुनि कहते हैं—राजा, कायर लोग इन पाँच समिति के पालन में असावधानी रखते हैं। कार्य का अभ्यास करने में गल्ती होना दूसरी बात है। किसी वीर से यदि इस प्रकार गल्ती हो भी जावे, तो वह अपनी गल्ती निकालने की चेष्टा करेगा

और भविष्य में सावधानी रखेगा। अभ्यास में गल्ती होने मात्र से कोई साधु, कायर नहीं कहलाता। क्योंकि, छद्मस्थ अपूर्ण है लेकिन बहुत से लोग, जान बूझ कर पाँच समिति की अवहेलना करते हैं, समिति की उपेक्षा करते हैं और दिन प्रति दिन इस ओर से पतित होते जाते हैं। ऐसा करने वाले कायर लोग, वीर-मार्ग के पथिक और पंच महाव्रत के पूर्ण आराधक नहीं हैं। यद्यपि कायर लोग, समितियाँ न पालने में, पंच महाव्रत का भंग नहीं समझते, लेकिन वास्तव में, पंच महाव्रत भंग हो जाते हैं। क्योंकि, पंच महाव्रत का सूक्ष्म रूप से पालन तभी सम्भव है, जब पाँचों समिति का भली-प्रकार पालन किया जावे। यद्यपि पंच महाव्रत एवं पंच-समिति का पूर्णतया पालन तो, यथाख्यात-चरित्रवाला ही कर सकता है, लेकिन इस ओर गति करना, प्रमाद न करना, प्रत्येक साधु का कर्त्तव्य है। अपने इस कर्त्तव्य को समझ कर, जो साधु सावधानी रखता है, उससे यदि कभी कोई गल्ती हो भी जावे, तो वह पतित नहीं कहलाता। पतित तो तभी कहलाता है, जब, जान बूझ कर उपेक्षा की जावे और जो गल्ती हुई है, उसे सुधारने की चेष्टा करने के बदले और बढ़ने दे।

हे मुनियो! तुम्हारा पद, चक्रवर्ती राजाओं एवं देवताओं से भी बड़ा है। देवता लोग, चक्रवर्ती के सामने अपना मस्तक नहीं झुकाते, लेकिन तुम्हारे आगे अपना मस्तक झुकाते हैं। चक्रवर्ती राजा भी, तुम्हारे दर्शन को लालायित रहता है। ऐसे

प्रतिष्ठित पद को पाकर भी, पाँच समिति के पालन में सावधानी न रखने पर, तुम्हारी गणना, कायरों एवं पतितों में होगी। इस के साथ ही, जिस उद्देश्य से तुमने घर-बार छोड़ा है, जिस ध्येय को लेकर, सांसारिक सुख त्याग संयम में प्रव्रजित हुए हो, समिति पालन में असावधानी रखने पर, उसकी भी पूर्त्ति नहीं होगी। तुम्हारे पदकी प्रतिष्ठा, तुम्हारे ध्येय की पूर्ति, एवं गृह-संसार छोड़ने से लाभ, तभी है, जब तुम पंच महाव्रत के साथ ही पंच समिति के पालन में सावधानी रखो। यदि तुम से कोई गल्ती भी हो जावे, तो उसका प्रतिशोधन करो, लेकिन उसे बढ़ने मत दो। पहाड़ पर से एक पांव फिसला और दूसरे पांव से उसी समय सम्हल गया, तब तो गिरने से रुक जाता है, और यदि दूसरे पांव को भी ढील दे दी, तो लुढ़कता हुआ नीचे ही चला जाता है इसी प्रकार, पाँच समिति के पालन में कोई गल्ती हो जावे और उसी समय अपनी गल्ती को मान कर, भविष्य के लिए सम्हल जाओगे, तब तो तुम्हारी गणना कायरों में न होगी! तुम दूसरी अनाथता में न पड़ोगे, अन्यथा, सनाथी मुनि के कथनानुसार तुम कायर एवं अनाथ के अनाथ ही माने जाओगे। तुम्हारे लिए, इससे अधिक लज्जा की बात क्या होगी? इसलिए पंच महाव्रत एवं पंच समिति के पालन में, किंचित् भी असावधानी या प्रमाद मत करो। एक कदम आगे बढ़ाने वाला, वीर माना जाता है और एक कदम पीछे हटाने वाला, कायर माना जाता है। तुम अधिक आगे न बढ़ सको तब भी, पीछे तो कदम

मत हटाओ! यानी तुमने जिस चरित्र को स्वीकार किया है, उसके पालन में तो प्रमाद मत करो। तुम्हें समिति गुप्ति के पालन में, किस प्रकार एकाग्रचित्त रहना चाहिए, इसके लिए एक दृष्टान्त दिया जाता है।

एक पारधी, शिकार की ताक लगाये बैठा था। उसके पास होकर एक बारात निकली। थोड़ी ही देर बाद, उसी बारात के कुछ आदमियों ने पारधी के पास आकर, पारधी से पूछा, कि क्या इस तरफ से बारात निकली है? पारधी ने उत्तर दिया—कि मैंने नहीं देखी। उनने पूछा-तुम यहाँ कितनी देर से हो? पारधी ने उत्तर दिया–सुबह से। उन लोगों ने कहा-कि जब तुम यहाँ सुबह से हो, तो तुमने बारात अवश्य ही देखी होगी। क्योंकि उस बारात के जाने का मार्ग यही था। पारधी ने उत्तर दिया—कि यदि गई भी हो तो मुझे पता नहीं। मैं, शिकार की ताक में बैठा था, बारात की ओर ध्यान क्यों देने लगा।

हे मुनियो! वह पारधी, रुद्रध्यान में था। उस ध्यान से उसे हिंसा करनी अभीष्ट थी। उस रुद्र ध्यान में भी, वह ऐसा एकाग्रचित्त रहा, कि उसे पास से गाती बजाती हुई बारात निकल जाने की भी खबर न हुई, तो तुम्हें धर्मध्यान में अपना चित्त कैसा एकाग्र रखना चाहिए! इसका विचार करो।

चिरंपि स मूण्डरुई भवित्ता अथिरव्वए तव नियमेहि भट्ठे।
चिरंपि अप्पाए किलेसइत्ता न पारए होइ हु संपराए ॥४१॥

भावार्थ—व्रत नियम और तप में अस्थिर रहने वाला, चाहे चिरकाल तक सिर मुण्डन कराता रहे और आत्मा को कष्ट में डालता रहे, तब भी संसार से पार नहीं होता।

सनाथी मुनि कहते हैं—हे राजा, कई कायर लोग, संयम लेकर, सिर के केश तो लुंचन करते हैं लेकिन व्रत नियम और तप की आराधना रूप भगवान महावीर के मार्ग पर नहीं चलते। ऐसे लोग, चाहे जिरकाल तक केश लुंचन किया करें, चिरकाल तक कष्ट उठाते रहें, लेकिन जन्म-मरण से नहीं छूटते।

राजा, कायर लोग व्रत नियम का पालन न करके भी, साधु-वेश का त्याग नहीं करते, किन्तु साधु-वेश रख कर, केश लुंचनादि बाह्य क्रिया करते रहते हैं। लेकिन, केवल बाह्य-क्रिया से, कोई भी जन्म-मरण-मुक्त नहीं हो सकता। जन्म-मरण से मुक्त तो तभी हो सकता है, संसार के कष्टों से तभी छूट सकता है, अनाथता से निकल कर सनाथ तभी हो सकता है, जब, संयम में प्रव्रजित होने के समय लिये गये व्रत-नियमादि के पालन में प्रमाद न करे। राजा, संयम में प्रव्रजित होकर भी, व्रत-नियमादि का पालन न करना और फिर साधु-वेश धारण किये रहना—यानी साधु बने रहना—कैसा है, यह सुनो—

पुल्लेव मुट्ठी जह से असारे अयन्तिए कूड कहावणे वा।
राढामणी वेरुलियप्पगासे अमहग्घए होइ यजाणएसु ॥४२॥

कुसील लिङ्गं इह धारइत्ता इसिज्झयं जीविय वूह इत्ता।
असंजए संजय लप्पमाणे विणिघाय मागच्छइ से चिरंपि ॥४३॥

भावार्थ—जिस प्रकार भिड़ी हुई होने पर भी खाली मुट्ठी, मणि के समान चमकता भी काँच का टुकड़ा और अनियन्त्रित एवं खोटा सिक्का, जानकार के समीप असार है, इसी प्रकार, व्रत-नियम-रहित साधु-चिन्ह धारण करने वाला भी, असंयति होता हुआ भी, साधु-वेश धारण करके जो अपने आप को संयति बताता है और इस प्रकार आजीविका करता है, वह बहुत काल तक नरक की पीड़ा भोगता है।

सनाथी मुनि कहते हैं, कि मुट्ठी में कुछ न होते हुए भी—खाली मुट्ठी बन्द करके-अजान लोगों को धोखा दिया जासकता है। अजान लोग, खाली परन्तु बन्द मुट्ठी देखकर चाहे यह धोखा खा जावें, कि इस मुट्ठी में कुछ है, लेकिन जानकार कदापि धोखा न खावेगा। काँच के चमकते हुए टुकड़े को, कोई अजान चाहे मणि मान भी ले, लेकिन मणि को पहचान सकने वाला काँच को कदापि मणि नहीं मान सकता। सच्चे सिक्के के समय दिखनेवाले खोटे सिक्के को, जानकार कभी सच्चा सिक्का नहीं मान सकता। ठीक इसी प्रकार, संयम न पाल कर भी साधु-लिङ्ग (वेश) धारण करके आजीविका करनेवाले-कुशील-लिङ्ग-धारक को, अजान लोग चाहे साधु मान लें, अजान लोग ऐसे कुशील के विषय में चाहे धोखा खा जावें, लेकिन जानकार, ऐसे

लोगों को साधु नहीं मान सकता। जानकार की दृष्टि में तो ऐसा आदमी घृणा का ही पात्र है, श्रद्धा या प्रतिष्ठा का पात्र नहीं।

सनाथी मुनि ने, व्रत-नियम-रहित साधु-चिन्ह को, खाली मुट्ठी, काँच के टुकड़े और खोटे सिक्के की उपमा दी है। वे कहते हैं कि जिस प्रकार खाली मुट्ठी बन्द करके भरी का बोध करानेवाला, काँच के टुकड़े को मणि कहनेवाला और खोटे सिक्के को अच्छा बतानेवाला, अपने आत्मा को ठगने के साथ ही दूसरे को भी ठगता है, इसी प्रकार पंच महाव्रत एवं पंच समिति का पालन न करके, केवल साधु-वेश एवं साधु-चिन्ह रखनेवाला, अपने आप को भी ठगता है और दूसरे को भी ठगने की चेष्टा करता है। यद्यपि वह आजीविका एवं मान प्रतिष्ठा के लिए ऐसा करता तो है, लेकिन इस प्रकार थोथे साधु-चिन्ह से न तो वह जानकार को ठग ही सकता है, न सनाथ ही बन सकता है।

राजा, जिस प्रकार काँच का टुकड़ा मणि का काम नहीं दे सकता, खाली मुट्ठी भरी मुट्ठी का काम नहीं दे सकती और नकली सिक्का, असली सिक्के का काम नहीं दे सकता, उसी प्रकार पंच महाव्रत एवं पंच समिति के बिना खाली साधु-वेश, साधुपने की गरज को पूरी नहीं कर सकता। साधु पने का वेश और चिन्ह रखने पर, संयम के व्रत-नियमों का पालन करना ही चाहिए। यदि संयम के व्रत नियमों का पालन न हो सके, तो साधु-वेश को पृथक करके स्पष्ट कह देना चाहिये, कि मैं, साधु नहीं

हूँ। ऐसा न करके जो लोग साधु-चिन्ह धारण किये रहते हैं और पंच महाव्रत की विराधना करते हैं, वे ऋषीश्वरों के चिन्ह को दूषित करते हैं। व्रत नियम का पालन न करने पर, जो साधुलिङ्ग सनाथ बनाने वाला है, वही महान् दुःख देनेवाला बन जाता है। असंयम के साथ संयमी-वेश किस प्रकार हानि करने वाला होता है, व्रत-नियम-रहित साधु-वेश क्या करता है, यह सुनो।

विसंतु पीयं जह कालकूडं हणाइ सत्थं जह कुग्गहीयं।
एसो व धम्मो विसओववन्नो हणाइ वेयाल इवा विवन्नो ॥ ४४ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार पिया हुआ कालकूट विष मार डालता है, उल्टी रीति से पकड़ा हुआ हथियार काट डालता है, अविधि से जपा हुआ मन्त्र प्राणनाशक होता है, इसी प्रकार दुरुपयोग किया जाने वाला विषय-भोग मिश्रित यति धर्म—(व्रत-नियम रहित साधु-वेश) भी अनिष्ट परिणाम देता है।

राजा, मुनियों के चिन्ह-रजो-हरण मुखवस्त्रिका आदि संयम पालन के लिए हैं, लेकिन कुशील लोग, मुनियों का चिन्ह असंयम की सहायता के लिए—असंयम को छिपाने के लिए—रखते हैं। वे लोग, ऋषियों की ध्वजा—रजोहरण मुखव स्त्रिका रखकर यह अभिलाषा रखते हैं, हम असंयम का आचरण करके भी इस ध्वजा से संयमी की गति प्राप्त कर लेंगे। उनके समीप पंच महाव्रत एवं पंच समिति मोक्षादि का कारण नहीं है, किन्तु

केवल वेश ही मोक्षादि का कारण है। इसीलिए वे, असंयम का आचारण करके भी, केवल वेश से संयमी की गति चाहते हैं, लेकिन उनकी यह आशा, दुराशा मात्र है। ऐसे लोग, स्वर्ग या मोक्ष प्राप्त करना तो दूर रहा, नरकादि के कष्ट भी नहीं मिटा सकते; किन्तु बहुत काल तक नरक के कष्ट भोगते रहते हैं।

राजा, मोक्ष की अभिलाषा से धारण किया हुआ व्रत-नियम-रहित यतिवेश, उसी प्रकार उल्टा फल देने वाला होता है, जिस प्रकार, दीर्घायुषी होने की अभिलाषा से पिया गया कालकूट विष, रक्षा की अभिलाषा से पकड़ा गया उल्टा हथियार और साँप को वश में करने की अभिलाषा से अविधि-पूर्वक जपा गया मन्त्र उल्टा फल देने वाला होता है। व्रत-नियम-रहित साधु वेश रख कर वह कुशीललिङ्गी चाहता तो है मोक्ष या स्वर्ग के सुख, लेकिन जाता है नरक को और पाता है वहाँ के घोर दुःख।

राजा, तेरे कार्य कर्त्ता राज-मुद्रा इसलिए धारण करते हैं, कि वे राज्य में होनेवाले अन्यायों का प्रतिकार करें। राज-मुद्रा, इस बात की द्योतक है, कि ये धारण करने वाले राजकर्मचारी हैं, तथा अन्याय अत्याचार को रोकने वाले हैं। जनता, राज-मुद्रा धारण करनेवाले को अपना रक्षक मानती है और उस पर विश्वास करती है। राज-मुद्रा धारण करनेवाले राज-कर्मचारियों का भी यह कर्त्तव्य होता है, कि वे राज्य के नियमों का विशेष रूप से पालन करें। लेकिन राजा, यदि कोई आदमी राज-मुद्रा

धारण करके भी राज्य के नियमों की अवहेलना करे, अन्याय अत्याचार करे, तो क्या तू उस राज-मुद्रा धारण करके अन्याय करनेवाले को दण्ड न देगा ? बल्कि ऐसे व्यक्ति को तू अधिक दण्ड का पात्र मानेगा। अपराध करने पर, वह राज-मुद्रा, दण्ड से बचाने में तनिक भी सहायता न पहुंचावेगी, किन्तु अधिक दण्ड दिलावेगी। उसे, अपराध करने का भी दण्ड मिलेगा और राज-मुद्रा कलंकित करने का भी। दण्ड देने के साथ ही, उस अपराध करने वाले व्यक्ति से, राज-मुद्रा भी छीन ली जावेगी। क्योंकि, यदि अन्याय अत्याचार करनेवाला भी, राज-मुद्रा धारण किये रहेगा, तो इस बात की पहचान ही कठिन हो जावेगी, कि कौन अन्याय अत्याचार को रोकने वाला है और कौन अन्याय अत्याचार में वृद्धि करनेवाला है।

राजा, यही बात साधु-वेश के लिए भी समझ ले। साधु का वेश, संयम के लिए है। साधु वेश से, संयम पालने की पहचान होती है। वेश को देखकर, जनता यह जानती है, कि ये वेश धारण करनेवाले, पंच महाव्रत के पालक और सनाथ हैं। लेकिन राजा, यदि कोई आदमी केवल वेश धारण किये रहे, पंच महाव्रत का पालन न करे, तो यह खाली वेश, उसे उस दण्ड से कदापि नहीं बचा सकता, जो दण्ड, पंच महाव्रत स्वीकार करके फिर पालन न करने से मिलता है। बल्कि यह थोथा साधु वेश, उस दण्ड में उसी प्रकार वृद्धि करता है, जिस प्रकार अपराध करने पर, राज-मुद्रा दण्ड में वृद्धि करती है।

राजा, कभी कोई यह कहे, कि साधु-चिन्ह रजोहरण मुख वस्त्रिका आदि रखकर, यदि पंच महाव्रत का पालन न किया, तब भी कुछ न कुछ यतना तो करेहीगी। फिर उसने बुरा क्या किया, जो उसे अधिक दण्ड-नरकादि–मिलता है ? लेकिन राजा, महाव्रतों का पालन न करके भी, वह रजोहरण मुखवस्त्रिका आदि किस अभिप्राय से रखता है, इसे देखो। पंच महाव्रत का पालन न करके भी, रजोहरण मुखवस्त्रिका आदि रखये से उसका अभिप्राय जयणा करना नहीं है, किन्तु लोगों को धोखा देना है। पंच महाव्रत की घात करके, वह, रजोहरण मुखवस्त्रिका आदि आजीविका के लिए रखता है। यदि यतना के लिए रखता होता, तो पंच महाव्रत की घात ही क्यों करता ? कोई चोर, पैसों की चोरी न करके, रुपयों की चोरी करे, तो इसका यह अर्थ नहीं है, कि वह इतने अंश में ईमानदार है। ईमानदार तो तब होता, जब रुपयों की भी चोरी न करता। रुपयों की चोरी करता है इसलिए पैसों की चोरी छोड़ने का कोई मूल्य- नहीं है। बल्कि, पैसों की चोरी छोड़कर रुपयों की चोरी करने- वाला अधिक धूर्त्त है। उसने, धूर्त्तता के लिए पैसों की चोरी छोड़ी है। इसी प्रकार पंच महाव्रत की घात करे और जयणा के नाम पर साधु-लिङ्ग धारण किये रहे, तो यह धूर्त्तता के सिवा और कुछ नहीं कहा जा सकता। जिस आदमी को जयणा का ध्यान होगा, वह पंच महाव्रत की घात करे, यह कदापि सम्भव नहीं है।

सनाथी मुनि ने मूल गुण की ओर से होनेवाली अनाथता बताई। अब वे उत्तर गुण की ओर से होनेवाली अनाथता का वर्णन करते हैं और साथ ही यह भी बताते हैं, कि पंच महाव्रत रहित साधु-लिङ्ग धारण करके आजीविका करनेवाले की, प्रकट में क्या पहचान है। इसके लिए वे कहते हैं—

जे लक्खणं सुविणं पउंज माणे
निमित्त कोऊहल संप गाढे।
कुहेड विज्जा सवदार जीवी
न गच्छई सरणं तम्मिकाल ॥४५॥

भावार्थ—जो आदमी, साधु बन कर लोगों को स्वप्न एवं लक्षणादि का फल बताता है, भूकंप आकाश-विग्रह बताता है, पुत्रादि प्राप्ति के उपाय कराता है, तथा आश्चर्य उत्पन्न करनेवाली बातें बताता है, और इन कामों द्वारा आजीविका करता है, वह दुखों से कदापि शरण नहीं पा सकता।

सनाथी मुनि कहते हैं—राजा, कई कायर लोग, संयम स्वीकार करके, स्वप्न, लक्षण, भूकंप, ग्रहण आदि का फल और निमित्त आदि बताने में पड़ जाते हैं। इस प्रकार वे, अपनी महिमा पूजा बढ़ाते एवं आजीविका करते हैं। वे लोग, इन्द्र जालादि कुविद्या द्वारा भी लोगों को आश्चर्य में डालते हैं, लेकिन ये विद्याएँ, सनाथ बनाने वाली नहीं किन्तु अनाथ बनानेवाली

हैं। अन्त में, ये विद्याएँ शरण-दात्री नहीं होतीं। ऐसे लोग, थोड़ी देर के लिए सांसारिक मान प्रतिष्ठा चाहे प्राप्त कर लें, संसार के लोभी लोगों को ठग कर आजीविका भले कर लें लेकिन मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकते। संसार में इस उपाय से जमाया हुआ क्षणिक प्रभाव, मोक्ष-मार्ग का बाधक है। ऐसे लोग, अनाथ के अनाथ ही हैं।

जैन शास्त्रों में तो साधुओं के लिए स्वप्न लक्षण आदि का फल बताना मना ही है लेकिन अन्य ग्रन्थकार भी निषेध ही करते हैं। सन्यासाश्रम की विधि बताते हुए मनुस्मृति में कहा है—

न चोत्पात निमित्ताभ्यां न नक्षत्राङ्ग विद्यया।

नानुशासन वादाभ्यां भिक्षां लिप्सेत् कर्हिचित्॥

अध्याय ६ ठा

अर्थात्—(सन्यासी) भूकंप आदि उत्पात, निमित्त नक्षत्र-विद्या (ज्योतिष) और अंग-विद्या (सामुद्रिक) बतलाकर, तथा धर्म एवं नीति का उपदेश देकर बदले में कदापि भिक्षा प्राप्त न करे।

संयम लेकर, फिर अहिंसादि पंच महाव्रत की विराधना करने, पंच समिति का पालन न करने और स्वप्न लक्षण आदि

का फल बताने से, क्या हानि होती है, यह बताने के लिए सनाथी मुनि कहते हैं—

तमं तमेणेव उ से असीले

सया दुही विप्परिया मुवेति ।

संधावई नरग तिरिक्ख जोणी

मोणं विराहेत्तु असाहु रूवे ॥४६॥

भावार्थ—वह संयम की विराधना करनेवाला साधुलिंगधारी दुखी होता हुआ विपर्यास को प्राप्त होता है; यानी उल्टा समझता तथा करता है। इस कारण वह असाधु संयम स्वीकार करने पर भी नरक तिर्यक् गति के कार्य करता है और नरक तिर्यक् गति में भ्रमण करता रहता है।

राजा, जिस ध्येय को लेकर उठा है; उसे भूल जाना और उसके विपरीत कार्य करना, दुःख का कारण है। संयम के विराधक लोग, संसार में चाहे सुखी भी देखे जाते हों, लेकिन संसार में दिखनेवाले सुख के पीछे, बहुत दुःख छिपा हुआ है। सांसारिक सुख ही तो जन्म-मरण का कारण है। साधुपने में, सांसारिक सुख यश वैभव कीर्त्ति आदि की चाह करना, उनकी प्राप्ति के उपाय करना, साधुपने के लक्षण नहीं हैं। साधुपने में तो इन सब का बलिदान करना होता है। साधुपना लेकर, उत्तम ज्ञान, दर्शन और चरित्र की आराधना करनी चाहिए। जो

लोग, साधु होकर भी सांसारिक सुखों की अभिलाषा करते हैं, वे, अपनी गाँठ में बँधे हुए चिन्तामणि रत्न को देकर बदले में पत्थर ले रहे हैं। जो मनुष्य संयम रूपी चिन्तामणि रत्न खोकर, बदले में सांसारिक सुख, यश, कीर्त्ति आदि रूपी पत्थर लेता है, वह सुखी कैसे हो सकता है? वह तो सदा ही दुःखी रहता है और मरने पर नरक या तिर्यक् गति में जाता है।

यहाँ प्रश्न होता है, कि साधुपना लेकर असंयम में पड़नेवाला, आखिर साधुपने का—अपने वेश का—कुछ भी तो ध्यान रखता ही होगा। वह जो भी सांसारिक सुख भोगता होगा, वह गृहस्थ की अपेक्षा थोड़े और गृहस्थ के दिये हुए या उनके जूठे। ऐसा होते हुए भी, उस द्रव्यलिंगी साधु को नरक तिर्यक् की गति प्राप्त होती है, तो फिर गृहस्थों का तो कभी कल्याण ही नहीं हो सकता! गृहस्थों को तो इससे भी भारी दण्ड भोगना पड़ता होगा। यदि गृहस्थों को इससे भारी दण्ड नहीं भोगना पड़ता है, तो फिर द्रव्यलिंगी साधु को, थोड़े से सांसारिक सुख भोगने के कारण ऐसा कठिन दण्ड क्यों प्राप्त होता है?

इस प्रश्न का उत्तर यह है, कि गृहस्थ जो सांसारिक भोग भोगता है, वह अपनी की हुई किसी प्रतिज्ञा से भ्रष्ट होकर नहीं, किन्तु प्रतिज्ञा पर स्थिर रह कर। वह, सांसारिक भोगों के लिए, छल कपट नहीं करता। वह नहीं करता, कि सांसारिक भोग भी भोगे और साधु-वेश पहनकर, अपने आपको पंच महाव्रत धारी

भी प्रसिद्ध करे। वह जो कुछ भी करता है, चुरा छिपा कर नहीं करता है। लेकिन द्रव्यलिंगी साधु, अपनी प्रतिज्ञा से भ्रष्ट होकर सांसारिक विषय-भोग भोगता है। वह, गृहस्थों की तरह गृहस्थ-वेश में सांसारिक-सुख नहीं भोगता, किन्तु उस वेश में भोगता है, जो सांसारिक-भोग त्यागनेवालों का है। गृहस्थों के पास, सांसारिक भोगों के साधन भी रहते हैं, इसलिये उन्हें छल कपट नहीं करना पड़ता, लेकिन संयम में प्रव्रजित होने वाला, ऐसे साधनों को, संयम में प्रव्रजित होने के समय ही त्याग चुकता है। इसलिए उसे, सांसारिक भोग के साधन जुटाने में, छल कपट से काम लेना होता है। उदाहरण के लिए, गृहस्थ के पास स्त्री है, लेकिन द्रव्यलिंगी, स्त्री आदि त्याग कर ही संयम में प्रव्रजित हुआ था, इसलिए उसके पास स्त्री नहीं है। अब यदि वह स्त्री-भोग भोगेगा, तो पर-स्त्री के साथ ही और पर-स्त्री प्राप्त करने में उसे न मालूम कैसे कैसे छल कपट का आश्रय लेना होगा। यही बात धन वैभव आदि के लिए भी है। तात्पर्य यह, कि द्रव्यलिंगी एक तो त्यागियों के वेश में सांसारिक सुख भोगता है। दूसरे, प्रतिज्ञा के विपरीत कार्य करता है। तीसरे, सांसारिक भोग प्राप्त करने में, छल कपट से काम लेता है। और चौथे, गृहस्थों की अपेक्षा उसकी लालसा बढ़ी हुई होती है। इन्हीं कारणों से, वह, ऐसे कठिन दण्ड का पात्र है। शास्त्र में कहा है-

माई मिच्छा दिट्ठी अमाई समदिट्ठी।

अर्थात्—माया-छल कपट-करने वाला मिथ्यादृष्टि है और माया नहीं करने वाला समदृष्टि है।

साधु-वेश में रहकर, जो सांसारिक भोग भोगता है, वह, छल कपट करनेवाले मिथ्यादृष्टि के समान है। इसीलिए उसे, सनाथी मुनि के कथनानुसार कठिन दण्ड प्राप्त होता है। गृहस्थों में भी, जो छल कपट करनेवाला है, जो प्रतिज्ञा-भ्रष्ट है, एवं व्रत-नियम का पालन नहीं करता है, वह भी ऐसे ही कठिन दण्ड का पात्र है।

बहुत से लोग ऐसे भी होते हैं, जो व्रत-नियम के विरुद्ध कार्य करके, उस विरुद्ध कार्य को, व्रत-नियम के अन्तर्गत ही बतलाते हैं, या अपवाद-मार्ग के कार्य की प्ररूपणा, उत्सर्ग मार्ग में करते हैं। ऐसे उत्सूत्र प्ररूपक भी उसी दण्ड के पात्र हैं, जो सनाथी मुनि ने ऊपर बताया है।

संयम की विराधना के दुष्परिणाम का वर्णन करके सनाथी मुनि कहते हैं—

उद्देसियं कीयगडं नियागं
न मुञ्चई किंचि अणेसणिज्जं।
अग्गी विवा सव्वभक्खी भवित्ता
इत्तो चुए गच्छइ कट्टु पावं ॥६७॥

भावार्थ—संयम लेकर भी, जो अग्नि की तरह सर्वभक्षी बन जाता है, उद्देसिय-साधु के निमित बना हुआ-कान्त-साधु के लिए खरीदा हुआ नित्य पिण्ड-एक ही घर से नित्य लेता और अनएषिन-यानी न लेने योग्य-आहार भी नहीं छोड़ता, किन्तु लेकर खा जाता है, वह इस भव से पतित होकर कटु पाप के फल को प्राप्त करता है। यानी दुर्गति में जाता है।

सनाथी मुनि ने, संयम में प्रव्रजित होने के पश्चात् आनेवाली अनाथता के तीन कार पंच-महाव्रत का पालन न करना, पंच-समिति का पालन न करना, और लक्षण स्वप्न आदि का फल एवं निमित्त, इन्द्रजाल के तमाशे आदि बतलाना-कहे। अब वे, साधु-पने की अनाथता का, भोजन सम्बन्धी चौथा कारण बताते हैं। वे कहते हैं, राजा, साधुपने के व्रत-नियम की अवहेलना करनेवाले बहुत से-थोथे वेशधारी-लोग अग्नि की तरह सर्व भक्षी बन जाते हैं। जिस प्रकार अग्नि, अपने में पड़ी हुई सब वस्तुओ को भस्म कर देती है, उसी प्रकार वे द्रव्यलिंगी भी, सब कुछ खा जाते हैं। वे, भोज्य-अभोज्य किसी भी प्रकार का आहार नहीं छोड़ते। यद्यपि उनका कर्त्तव्य तो यह है, कि वे, आहार लेने में एषणासमिति का भली प्रकार पालन करें, लेकिन वे लोग, एषणा-समिति किंचित् भी ध्यान नहीं रखते। वे, अनएषणिक आहार भी ले लेते हैं, और वह आहार भी ले लेते हैं, जो गृहस्थों ने साधु के निमित्त से ही बनाया या खरीदा है। इसी प्रकार वे, एक

ही घर से नित्य-नित्य आहार लिया करते हैं तथा असूझता आहार भी ले लेते हैं।

राजा, कुशील लिङ्गी, स्वाद, या शरीर को पुष्ट करने के लिए, अग्नि की तरह सर्वभक्षी बनकर, एषणासमिति को भुला तो देता है, जिस तरह अग्नि अपने में पड़े हुए दुर्गन्ध युक्त, गीले और अपवित्र आदि सभी पदार्थों को भस्म कर देती है, इसी प्रकार वह भी, उद्देशिक, क्रीत, नित्यपिण्ड और अप्रासुक आदि अशुद्ध आहार लेकर खा तो लेता है, लेकिन मरण निश्चय है। संसार का कोई भी जीव, मरने से नही बच सकता, तो क्या ऐसा करनेवाला कुशीललिंगी न मरेगा ? अवश्य मरेगा और उस ऐसा करनेवाले कुशीललिंगी का आत्मा, हृष्ट पुष्ट शरीर एवं रसलोलुप जिह्वा को छोड़कर महान् दुर्गति में जावेगा। उसने, रसलोलुप बनकर, संयम का नाश किया है, इसलिए कटु-पाप-कर्म के फल को प्राप्त करेगा।

राजा, वह असाधु जब गृहस्थ था, तब इच्छानुसार भोजन बना कर या बनवाकर खा लेता। लेकिन उसने यह इच्छा की कि अब, मैं इच्छित भोजन नहीं करूँगा, किन्तु ऐसा भोजन करूँगा, जो मुझे शुद्ध-भिक्षा में मिल जावे। इस समय, मेरे भोजन के लिए, अनेक त्रस स्थावर जीव को कष्ट होता है। मैं, अपने खाने के लिए ही, त्रस स्थावर जीवों को कष्ट देता हूँ। लेकिन अब, मैं, किसी त्रस स्थावर जीव को, अपने भोजन के लिए, कष्ट न होने

दूँगा, किन्तु इस प्रकार भिक्षा करके क्षुधा मिटाऊँगा, जिस तरह भ्रमर, बिना निश्चय किये ही फूलों का रस लेने के लिए जाता है और एक ही ही फूल से नहीं, किन्तु अनेक फूल से रस लेकर अपनी तृप्ति कर लेता है। मैं भी भ्रमर-भिक्षा से अपना पेट भरूँगा, जिसमें मेरे भोजन के कारण, किसी भी त्रस स्थावर जीव को कष्ट न हो। अब मैं, रसलोलुप न रहूँगा।'

राजा, इस प्रकार की भावना से, वह गृह-संसार त्याग कर साधु होगया। वह, जब संयम में प्रव्रजित नहीं हुआ था, तब जैसा चाहता था, वैसा भोजन बना कर या बनवाकर खाता था, फिर भी, उसके लिए उपालम्भ की कोई बात न थी। लेकिन, उक्त भावना से साधु हुआ और फिर भी उससे स्वादलोलुपता न छूटी, तो यह, प्रतिज्ञा के विपरीत एवं उपालम्भ का कार्य है। उस असाधु की रसलोलुपता से, अनेक त्रस स्थावर जीव की हिंसा होती है, फिर भी, वह जैसा इच्छित भोजन गृहस्थावस्था में कर सकता था, वैसा भोजन प्राप्त नहीं कर पाता। इस कारण उसका चित्त, स्वादिष्ट भोजन के लिए सदा लालायित रहा करता है। इन्हीं कारणों से, वह दुर्गति में जाता है।

राजा, संयम का पालन करने वाले लोग अपने लिए बनाया गया, या अपने लिए खरीदा हुआ आहार नहीं लेते। क्योंकि ऐसा आहार लेने से, साधु के लिए अनेक त्रस स्थावर जीवों की हिंसा होती है। इसी प्रकार, साधु, नित्य एक ही घर से भिक्षा

नहीं किया करते। एक ही घर से भिक्षा लेते रहने पर उस घर वाले को यह मालूम रहता है, कि साधु आवेंगे, इसलिए वह, साधु के वास्ते विशेष तयारी करता है—विशेष भोजन बनवाता है—जिससे साधु के लिए, त्रस स्थावर जीवों की हिंसा होती है। संयमी लोग, भिक्षा में वैसा ही आहार ले सकते हैं, जो बयाँलिस दोष से रहित हो। वे उद्देशिक, क्रीत, नित्य पिंड तथाआमन्त्रित होकर या पहले से सूचना देकर आहार नहीं लेते। लेकिन कुशील लिङ्गी लोग, भोजन सम्बन्धी इन निमयों का पालन नहीं करते। वे, एषणिक एवं अनैषणिक दोनों ही प्रकार का आहार लेते और खाते हैं। परिणाम यह होता है, कि ऐसे लोगों को इस लोक में भी सम्मान-पूर्वक आहार नहीं मिलता—अनादर-पूर्वक आहार मिलता है, और परलोक में भी, दुर्गति मिलती है।

जैन-भिक्षु के लिए, भिक्षा सम्बन्धी जो विधि बताई गई है, बहुत अंश में वैसी ही विधि, अन्य ग्रन्थों में भी बताई गई है। जैसे—

विधूमे न्यस्तमुसले व्यंगारे भुक्तवज्जने।
अतीते पात्र संपाते नित्यं भिक्षां यतिश्चरेत्।
सप्तागारांश्चरेद्भैक्ष्यं भिक्षितं नानुभिक्षयेत्॥

शङ्खस्मृति अ० ७

अर्थात्—गृहस्थों के यहाँ जब मूसल चलना-कूटना-बन्द हो गया हो, धुआँ न निकलता हो, गृह के लोग भोजन कर चुके हों और जल-पात्रादि का रखना उठाना न हो रहा हो, उस समय यति, भिक्षा के लिए जावे; यति सात घर से भिक्षा ले और जिस घर से पहले भिक्षा ले चुका है, उस घर से भिक्षा न ले।

न तापसैर्ब्राह्मणैर्वा वयोभिरपि वा श्वभिः।
आकीर्णं भिक्षुकैर्वान्यैरागारमुपसंव्रजेत ॥

मनुस्मृति अ० ६ ठा

अर्थात्—सन्यासी, उस घर में भिक्षा के लिए कदापि न जावे, जिस घर में, भोजन के लिए आये हुए तापस, ब्राह्मण, कुत्ते, कौए या दूसरे भिक्षुक मौजूद हों।

सनाथी मुनि कहते हैं—राजा, संयम में प्रव्रजित होना, सनाथ होना है और अपने आत्मा को सुआत्मा बनाना है। संयम में प्रव्रजित होकर, फिर जो असंयम में प्रवृत्त होता है, शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श का लोलुप बन कर या प्रमादवश—साधुता के व्रत-नियम का उल्लंघन करता है, वह अपने आत्मा को, दुरात्मा बनाता है। दुरात्मा, अपने-आपकी क्या हानि करता है, यह सुन—

न तं अरी कण्ठ छेत्ता करेइ
जं से करे अप्पणिया दुरप्पा।

से नाहई मच्चुमुहंतु पत्तो
पच्छाणुतावेण दया विहूणो ॥४८॥

भावार्थ—गला काटनेवाला दयाहीन वैरी भी वह अहित नहीं करता, जो अहित दुरात्मा अपने आप का करता है। दुरात्मा को, मृत्यु के मुख में पड़ने पर महान् पश्चात्ताप होता है।

सनाथी मुनि कहते हैं—राजा, संसार में वैरी को अहित करनेवाला माना जाता है। जो जितना अधिक अहित करे, वह उतना ही अधिक दुश्मन समझा जाता है। दुश्मन द्वारा अधिक से अधिक अहित गला काटने का होता है, इससे अधिक कोई अहित वैरी द्वारा नहीं माना जाता। यह, वैरी द्वारा होने वाले अहित की चरम सीमा है। सांसारिक लोग कहते ही हैं, कि ,असुक व्यक्ति यदि हमारा वैरी है, तो अधिक से अधिक हमारा गला काट डालेगा, और क्या करेगा ?' अर्थात्, वैर पूरा करने की सीमा इतनी ही है, इससे अधिक वैरी कुछ नहीं कर सकता। यह भी वही वैरी करेगा, जो दयाहीन हो। लेकिन राजा, दुरात्मा से तो अपने आपका वह अहित होता है, जो अहित, वैरी कहलाने वाले से भी नहीं हो सकता। बल्कि वैरी बने हुए व्यक्ति को, सुआत्मा अपना हित करने वाला मानता है; जैसे। कि गजसुकुमार मुनि ने,सोमल को अपना सहायक मानाता था। ऐसे समय पर, सुआत्मा सोचता है, कि मैं इस मारने वले से नहीं मर सकता, मैं तो अपने आप से ही मर सकता हूँ—यानी

अपने कार्यों से ही दुःख पा सकता हूँ। यदि, वैरी द्वारा गर्दन कटने पर आत्मा में समता रहे तो वह गर्दन काटनेवाला, मोक्ष प्राप्त कराने का साधन भी हो सकता है। लेकिन दुरात्मा अपने आपका, वैरी के गला काटने से भी अधिक अहित करता है। मृत्यु के मुख में पड़ने पर, दुरात्मा, अपने आप ही पश्चाताप की अग्नि से जलने लगता है। जिस समय वह नरकादि की वेदना भोगता है, उस समय उसे यह पश्चाताप होता है, कि 'मैंने संयम स्वीकार करके भी उसकी विराधना क्यों कर डाली ! मैं, थोड़े से नाशवान विषय-भोग के लोभ में क्यों पड़ गया ! यदि मैंने विषय लोलुपता से, या प्रमाद वश, संयम की विराधना न की होती, तो आज मुझे, नरक तिर्यक् गति में जन्म लेकर, ये कष्ट क्यों भोगने पड़ते ? वे सांसारिक विषय-भोग-जिनमें पड़ कर, मैंने संयम की विराधना की थी— वहीं रह गये, और मुझे ये कष्ट भोगने पड़ रहे हैं। यदि मैंने, संयम का भली-प्रकार पालन किया होता, संयम की अवहेलना न की होती, तो आज मैं उस सुख में होता, जो सुख अविनाशी है।'

यहाँ प्रश्न होता है कि गला काटने वाला वैरी तो प्रत्यक्ष में ही गला काटता है, शरीर नाश करता है, लेकिन दुरात्मा, अपने आपकी प्रत्यक्ष में ऐसी कोई हानि नहीं करता, फिर दुरात्मा को, कण्ठ काटने वाले वैरी से भी अधिक अपने आपका अहित करने वाला कैसे कहा ?

इस प्रश्न का उत्तर यह है, कि सिर काटने वाला वैरी, शरीर का ही नाश करता है, आत्मा का वह कुछ नहीं बिगाड़ सकता। केवल शारीरिक हानि ही हानि नहीं है, किन्तु आध्यात्मिक हानि ही वास्तविक हानि है। आस्तिक लोग, आत्मा को अविनाशी और शरीर को नाशवान मानते हैं। इसलिए उनके समीप, शरीर का नष्ट होना कोई हानि नहीं है। वे, प्रत्यक्ष या इस लोक को ही नहीं मानते, किन्तु इसके साथ ही, परोक्ष और लोक को भी मानते हैं। यह उपदेश, आस्तिकों के लिए ही है। जो लोग, शरीर के साथ ही, आत्मा का भी नाश मानते हैं; आत्मा और शरीर को, दो नहीं, किन्तु एक ही जानते हैं, ऐसे लोगों के लिए यह उपदेश नहीं है। इसलिए, दुरात्मा द्वारा की हुई अपने आपकी हानि, प्रत्यक्ष में चाहे न दीखती हो, प्रत्यक्ष में चाहे लाभ ही दिखता हो, लेकिन मृत्यु के पश्चात् परलोक में वह दुरात्मा भीषण संकट में पड़ता है; और आस्तिक लोग, परलोक मानने से इन्कार नहीं कर सकते। आस्तिक लोग, आत्मा को अविनाशी मानने के साथ ही, परलोक पर भी विश्वास करते हैं। तात्पर्य यह कि हानि की सीमा, प्रत्यक्ष दिखने तक ही नहीं है, किन्तु, चर्म-चक्षु से न दिखनेवाली हानि भी है, जिसे ज्ञानी लोग, अपने ज्ञान द्वारा प्रत्यक्ष देखते हैं। परलोक में होनेवाली हानि को, चर्म-चक्षु से नहीं देखा जा सकता। किन्तु ज्ञान-चक्षु से ही देखा जा सकता है। उस हानि को, चर्म-चक्षु से देखने की इच्छा करना, भूल है और नास्तिकता का चिन्ह है।

सनाथी मुनि कहते हैं—राजा, मृत्यु के मुख में पड़ने पर, दुरात्मा को महान् पश्चाताप होता है। पश्चाताप के साथ ही; उसे नरक तिर्यक गति के महान् से महान् कष्ट भी भोगने पड़ते

किन्तु—

निरट्ठिया नग्गरुई उ तस्स
जे उत्तमट्ठं विवज्जासमेई।
इमे वि से नत्थि परे विलोए
दुहओ वि से झिज्झइ तत्थ लोए ॥४६॥

भावार्थ—जो उत्तम संयम लेकर भी उसमें रुचि नहीं रखता, और संयम की विराधना करता है, उसका संयम लेना निरर्थक होता है। उसके लिय यह लोक भी लाभप्रद नहीं होता और परलोक भी नहीं होता। वह दोनों ही लोक में दुःख पाता है।

सनाथी मुनि कहते हैं—राजा, बहुत से लोग, संयम के प्रति रुचि न होने पर भी, संयम ले लेते हैं और फिर उसका पालन नहीं करते, किन्तु उसकी विराधना करते हैं। मानापमान की दृष्टि से, वे, संयम का वेश भी नहीं त्यागते और रुचि न होने से, संयम का पालन भी नहीं कर पाते। उनके लिए, साँप छछूंदर की सी गति हो जाती है। इस प्रकार उनका यह लोक भी सुख-प्रद नहीं रहता और संयम की विराधना करने से, परलोक तो दुःखप्रद है ही। वे, इस लोक और परलोक, दोनों में ही झुरते

रहते हैं किसी भी लोक में, निश्चिन्त और सुखी नहीं रहते। इस लोक में लोक लज्जा के मारे, केशलुंचन, नंगे पाँव चलना, भिक्षा माँगना आदि प्रकट कार्य तो उन्हें उसी प्रकार करने पड़ते हैं, जिस प्रकार संयम पालनेवाले करते हैं. फिर भी उनके ये कार्य, निरर्थक होते हैं; उत्तम अर्थ में नहीं लगते। क्योंकि, वे जो कुछ करते हैं, जो कष्ट सहते हैं, सब आडम्बर के लिए।

राजा! रुचि और उत्साह पूर्वक संयम का पालन करने पर, कष्ट नहीं होता। रुचि और उत्साह सहित केशलुंचन में, पैदल चलने में, तथा भिक्षा माँगने में, अपूर्व आनन्द अनुभव होता है। जिस प्रकार सांसारिक लोग, पुत्र पुत्री के विवाह में दिन रात परिश्रम करते हैं, क्षुधा तृषा सहते हैं, और भी अनेक कष्ट उठाते हैं, फिर भी वे, इसमें आनन्द ही मानते हैं। उसी प्रकार रुचि और उत्साह सहित संयम पालने वाला परिषह सहन, केश-लुंचन, भिक्षा, पैदल चलने आदि में आनन्द ही मानता है। कष्ट नही समझता। ऐसे ही व्यक्ति का संयम लेना सार्थक है। जो लोग अरुचिपूर्वक संयम लेते हैं, संयम में कष्ट समझते हैं, उनका संयम लेना निरर्थक है और ऐसे संयम लेनेवाले, दोनों ही लोक में दुःख अनुभव करते हैं।

सनाथी मुनि, साधुपने में होनेवाली अनाथता का वर्णन करके, उपसंहार में कहते हैं—

एमेव हा छन्द कुसील रूवे
मग्गं विराहित्तु जिणुत्तमाणं।

कुररी विवा भोग रसाणु गिद्धा

निरट्ठसोया परियाव मेइ ॥५०॥

भावार्थ—जिस प्रकार कुररी (मादापक्षी विशेष) मांस के लिए लालायित रहती है, उसी प्रकार साधुवेश धारी असंयमी लोग, रसादि भोग के लिए लालायित रहा करते हैं और स्वच्छन्द होकर, उत्तम जिनमार्ग की विराधना करके, फिर निरर्थक सोच तथा पश्चात्ताप करते हैं।

सनाथी मुनि कहते हैं—राजा बहुत से कायर लोग, संसार की अनाथता से निकलने के लिए, संयम लेकर, सांसारिक भोगों को त्याग तो देते हैं, लेकिन फिर उन्हीं त्यागे हुए भोगों के लिए इस प्रकार लालायित रहते हैं, जिस प्रकार, कुररी मांस के लिए लालायित रहा करती है। संसार के रसादि भोगों के लिए वे स्वच्छन्द आचरण करने लगते हैं और संयम के व्रत-नियम का पालन न करके भी, साधु बने रहकर लोगों को भ्रम में डाले रहते हैं। स्वच्छन्दाचरण द्वारा वे लोग, उत्तम जिन-मार्ग—संयम की विराधना कर डालते हैं। संयम की विराधना करने से रसादि भोगों की तृष्णा के वश होने से, उन्हें विचार नहीं होता, लेकिन मृत्यु के मुखमें पड़ने पर, वे सोच एवं पश्चात्ताप करते हैं। लेकिन राजा, समय बीत जाने पर, सोच या पश्चात्ताप करने से क्या लाभ ! फिर तो सोच पश्चात्ताप निरर्थक ही

है। संयम की विराधना करते समय उन्हें भूत भविष्य का विचार करना चाहिए था और यह देखना चाहिए था, कि मैं क्या करने को उठा था और क्या करता हूँ, तथा इसका फल क्या होगा। उस समय तो विचार नहीं किया, उस समय तो सांसारिक भोग एवं मानपमान आदि के आगे संयम का ध्यान नहीं रहा और अब पश्चात्ताप किस काम का ! इस निरर्थक पश्चात्ताप का कारण वह स्वयं ही तो है ! यदि वह अपने ध्येय को न भूला होता, सांसारिक भोगों में न पड़ा होता, संसार के मानापमान का विचार करके उसने संयम को दूषित न किया होता, तो अन्त में उसे पश्चात्ताप भी न करना पड़ता। संयम की विराधना करने से; पश्चात्ताप भी करना होता है और सनाथ का अनाथ ही रहता है।

सोच्चाण मेहावि सुभासियं इमं
अणुसासणं नाणगुणोववेयं।
मग्गं कुसीलाण जहाय सव्वं
महा नियण्ठाण वए पहेण ॥५१॥

भावार्थ—मेधावी लोग इस ज्ञान गुण संयुक्त सुभाषित सिखावन पर विचार करके, कुशीलों के मार्ग को त्यागकर, सर्वथा प्रकार से महानिर्ग्रन्थ के मार्ग पर चलेंगे।

चरित्त मायार गुणन्निए तओ
अणुत्तरं संजम पालियाणं।

निरासवे संखवियाण कम्मं
उवेइ ठाणं विउलुत्तमं धुवं ॥४२॥

भावार्थ—वे, गुणयुक्त चरित्र का आचरण करके अणुत्तर-यथाख्यातसंयम का पालन करेंगे और निराश्रवी होकर, तथा कर्मों को क्षय करके, उत्तम एवं ध्रुव स्थान-मोक्ष को प्राप्त करेंगे।

सनाथ मुनि कहते हैं—राजा, मैंने साधुपने की अनाथता का वर्णन किसी की निन्दा के लिए नहीं किया है, किन्तु संयम लेने वालों के हित की दृष्टि से किया है। यह, सुभाषित एवं ज्ञान-गुण-युक्त शिक्षा है। घरबार छोड़कर संसार की अनाथता से निकलने के लिए, संयम में प्रव्रजित लोग फिर अनाथता में न पड़ जावें, इसी के लिए यह उपदेश है। इसके साथ ही, उन लोगों के लिए भी यह उपदेश है, जो स्वयं अनाथता में पड़े हुए हैं लेकिन सनाथता को समझते हैं और सनाथ व्यक्ति की उपासना करते हैं। इस शिक्षा द्वारा, ऐसे लोगों को सावधान किया गया है कि तुम जिसकी उपासना सनाथ समझ कर कर रहे हो, कल्याण और मंगल करने वाले कह कर जिसे वन्दन नमस्कार करते हो, जिसे अपना मार्ग-दर्शक समझते हो, उसकी पहचान करलो, कि वह कहीं सनाथ के भेष में अनाथ तो नहीं है। जो सनाथ के वेश में रहकर भी अनाथता में पड़ा है, जिसमें अनाथता के लक्षण विद्यमान हैं, वह, अपना ही कल्याण नहीं कर सकता तो तुम्हारा कल्याण क्या करेगा ? जो स्वयं अपने लिए ही अमंगल है, वह तुम्हारे लिए मंगल करनेवाला कैसे

होगा ? इसलिए तुम अपने कल्याण के वास्ते जिसकी उपासना करते हो, उसकी भली प्रकार पहचान कर लो और देखलो कि वह अनाथ है या सनाथ। सनाथ व्यक्ति की उपासना से तो तुम्हारा हित होगा, लेकिन अनाथ व्यक्ति की उपसना से तुम्हारा हित न होगा, किन्तु अहित होगा। तुम और ज्यादा अनाथता में फँसते जाओगे, तथा जिन-मार्ग को दूषित करने वाले कि सहायता करने के कारण, कर्म-बन्ध करोगे।

राजा, यह शिक्षा, सुभाषित है! बिना रागद्वेष, हित की दृष्टि से कह गये प्रिय वचनों को सुभाषित कहते हैं। सुभाषित होने के साथ ही, यह शिक्षा, ज्ञान और गुण से युक्त है। यानि ज्ञान-गुण उत्पन्न करने वाली है।

राजा, इस सुभाषित और ज्ञानगुणसंयुक्त शिक्षा पर, बुद्धिमान लोग भली प्रकार विचार करके, कुशीलों के मार्ग को त्याग देंगे। संयम लेकर भी, जो आचार पालने में कमजोर हैं, जिनका उद्देश्य राग-द्वेष मिटाना, नहीं किन्तु रागद्वेष बढ़ाना है. जो संसार को अनाथता में पड़े हुए लोगों द्वारा त्याज्य कार्य करने तक में नहीं हिचकिचाते, उनके अनुशासन (शिक्षा) को बुद्धिमान लोग कदापि न मानेंगे। बुद्धिमान लोग, इस शिक्षा पर विचार करके महा-निर्ग्रन्थ के मार्ग को अपना कर जो संयम के व्रत नियमों का पूर्णरीति से पालन करता है, उसके अनुशासन में चल कर, गुणयुक्त चरित्र का आचरण एवं यथाख्यात संयम

का पालन करेंगे। ऐसा करके वे निराश्रवी एवं कर्म-रहित होकर, मोक्ष प्राप्त करेंगे।

राजा, मोक्ष-प्राप्ति के लिए ज्ञान युक्त चारित्र और चरित्र युक्त ज्ञान होना चाहिए। इन दोनों के होने पर ही, मोक्ष प्राप्त होता है। यदि दोनों में से कोई एक हो और दूसरा न हो तो काम नहीं चलता। जिस प्रकार एक पहिये से रथ नहीं चलता, उसी प्रकार ज्ञान और चरित्र में से केवल एक के होने पर, मोक्ष नही मिलता। चारित्रहिन ज्ञान, और ज्ञानहीन चारित्र मोक्ष के लिए पर्याप्त नहीं है। ज्ञानयुक्त पाला गया आचार ही उत्तम आचार है और ऐसा आचार ही मोक्ष-प्राप्ति का हेतु है।

राजा, संसार की अनाथता से निकलने के लिए संयम स्वीकार करने की आवश्यकता है, लेकिन संयम से लेने मात्र से सनाथ नहीं हो जाता। संयम स्वीकार करना सनाथता का मार्ग अपनाना है। इस मार्ग को पकड़ लेने वाला, भगवान महावीर के 'चल माणे चलिए' सिद्धान्त के अनुसार सनाथ अवश्य कहलाता है, एक प्रकार से वह सनाथ ही हो जाता है, लेकिन यदि उसने संयम-मार्ग को त्याग दिया, संयम के व्रत नियमों की अवहेलना की, तो वह फिर अनाथता में पड़ जाता है बल्कि संयम से पतित बन कर अनाथता में पड़ा हुआ व्यक्ति, सांसारिक अनाथता से भी अधिक अनाथता में पड़ जाता है। जिस

प्रकार गढ्ढे में पड़ा हुआ व्यक्ति, बाहर निकलने के लिये ऊपर चढ़ता है, लेकिन असावधानी के कारण फिर गढ्ढे में गिर जाता है और गिरने के साथ ही, अपने शरीर के किसी अंग को तोड़ लेता है, तथा इस प्रकार फिर बाहर निकलना कठिन बना लेता है, उसी प्रकार संयम से पतित होने वाला व्यक्ति अपने आपको पहले की अपेक्षा अधिक अनाथ बना लेता है। यदि वह संयम-मार्ग पर सावधानी से चलता रहा, पतित न हुआ तो वह अनाथता में नहीं पड़ता, किन्तु अन्त में, ऐसा स्थान प्राप्त करता है, जहाँ अनाथता का किंचित् भी भय नहीं है। अनाथता के भय से रहित स्थान का नाम 'मोक्ष' है। मोक्ष प्राप्त कर लेने वाला व्यक्ति सदा के लिये सनाथ हो जाता है, फिर कभी भी अनाथ नहीं होता। जब तक मोक्ष प्राप्त नहीं हुआ है, तब तक संयमी व्यक्ति भी—असावधानी या प्रमाद से अनाथता में पड़ सकता है। इसलिये, संयम लेकर सावधानी से उसका पालन करने और मोक्ष प्राप्त करने की आवश्यकता है। मोक्ष में पहुंचा हुआ, यानी सिद्ध, बुद्ध और मुक्त बना हुआ आत्मा ही पूर्ण सनाथ है।

श्रीसुधर्मा स्वामी, सनाथी मुनि द्वारा वर्णित सनाथता का वर्णन करके, श्रीजम्बू स्वामी से कहते कहते हैं—

एवुग्गन्ते वि महा तवोधणे
महामुणी महापइन्ने महायसे।
महानियण्ठिज्जमिणं महासुयं

से कहेइ महया वित्थरेणं ॥५३॥

भावार्द—इन्द्रियों का उग्रता से दमन करने वाले, महातपो धनी, महामुनि, महाप्रज्ञावान, महायशस्वी सनाथी मुनि, ने इस महानिर्ग्रन्थ के मार्ग रूपी महाश्रुत को बड़े विस्तार पूर्वक राजा श्रेणिक से कहा।

हे जम्बू, जिन सनाथी मुनि ने राजा श्रेणिक से यह वर्णन किया है, वे सनाथी मुनि, इन्द्रियों का उग्रता से दमन करने वाले थे। इन्द्रियों का दमन करने में वे नम्रता से किंचित् भी काम नहीं लेते थे। वे महान् तप के धनी थे। उन्होंने, असाधारण तपस्या कर रखी थी। वे महामुनि थे। संयम के व्रत-नियमों पर, वे ऐसे दृढ़ थे कि उन्हें इन्द्रादि भी विचलित नहीं कर सकते थे। व्रत-नियम पर अनुपम दृढ़ता के कारण वे महामुनि कहलाते थे। वे मुनि महा-प्रज्ञावान यानी ज्ञानवान थे। उनके ज्ञान का पार न था। इन सब विशेषणों से युक्त होने के साथ ही, वे सनाथी मुनि, महा यशस्वी थे। चाहे कोई उनकी निन्दा करे या प्रशंसा वे, यश के कामों को नहीं त्याग ते थे। उन सनाथी मुनि ने इस महाश्रुत को श्रेणिक राजा से, विस्तार पूर्वक कहा।

दूसरे अध्याय तो केवल अध्याय ही कहे जाते हैं, लेकिन इस अध्याय को, सुधर्मा स्वामी, महाध्याय कह रहे हैं। क्योंकि, इस अध्याय में उस महाकथा का वर्णन है जो, महामुनि

सनाथी ने, महाराज श्रेणिक को सुनाई थी। यह कथा, उस सनाथता एवं उस स्थान की मार्गदर्शिका है, जो नित्य, अविचल एवं दुःखसंताप रहित है।

श्री सुधर्मा स्वामी कहते हैं, कि महामुनि सनाथी ने, यह महाकथा, महानिर्ग्रन्थों का मार्ग बताने, एवं उस पर दृढ़ रखने के लिए कही है। सुधर्मा स्वामी के इस कथन का यह अर्थ नहीं है कि यह कथा, केवल उन साधुओं के ही काम की हो, जो व्रत नियमों का भली भाँति पालन कर रहे हैं। यदि ऐसा होता तो सनाथी मुनि, यह कथा राजा श्रेणिक को-जो गृहस्थ थान सुनाते। हाँ, मुख्यतः यह कथा, निर्ग्रन्थ-मार्ग को अपनाने वालों के लिए ही है लेकिन साधारणतया इस कथा से सब लोग लाभ ले सकते हैं। महा-निर्ग्रंथ के मार्ग पर चलने वाले लोग, इस कथा से यह जान सकेंगे, कि हम इन इन कार्य्यों से बचे रहें, अन्यथा, फिर दूसरी अनाथता में पड़ जावेंगे। जो लोग गिर चुके हैं, उन्हें निकालने-उनका उद्धार करने-से पूर्व जो लोग नहीं गिरे हैं, उन लोगों को-न गिरने के लिए-सावधान कर देना आवश्यक है। इस दृष्टिकोण से यह कथा मुख्यतः उन लोगों के लिए है, जो महा-निर्ग्रन्थ के मार्ग पर चल रहे हैं। यानी, ऐसे लोगों को सावधान कर दिया गया है, कि तुम अनाथता से निकलने के लिए ही संयम में प्रव्रजित हुए हो, लेकिन विषय लोलुपता, असावधानी, या प्रमाद से फिर अनाथता में मत पड़ जाना।

संयम मार्ग पर चलने वाले लोगों को सावधान करने के साथ ही, जो लोग संयम लेकर फिर अनाथता में पड़ गये हैं, या पड़ रहे हैं, तथा जो लोग संसार की अनाथता से निकल कर संयम में प्रव्रजित हो रहे हैं, एवं जो लोग, संयम में प्रव्रजित को अपना गुरु मानकर उनकी उपासना करते हैं, उन लोगों का भी, इस महाकथा से हित होगा। संयम में प्रव्रजित होकर फिर अनाथता में पड़े हुए लोग; इस कथा से यह बात समझ सकेंगे, कि 'हम फिर अनाथता में पड़ गये हैं। हमारे पास तो केवल संयम का वेश ही वेश है, जो व्रत-नियम का पालन न करने पर, हमें और अनाथता में धकेलने वाला है।' इस बात को जान कर, वे पुनः अनाथता से निकालने के उपाय करेंगे। जो लोग, संयम में प्रव्रजित होकर भी अनाथता में पड़ने वाले हैं, वे इस कथा से सम्हल जावेंगे। उन्हें मालूम हो जावेगा, कि हम तो संयम लेकर भी अनाथता की ओर अग्रसर हो रहे हैं। यह मालूम होने पर, वे, अपने आप को अनाथता में पड़ने से बचा लेंगे। इसी प्रकार जो लोग, संसार की अनाथता से निकलने के लिए संयम ले रहे हैं वे, इस महाकथा पर विचार करके संयम में प्रमाद न करेंगे, किन्तु सावधानी रखेंगे। उन्हें यह मालूम रहेगा, कि हम एक अनाथता से तो निकले हैं, लेकिन एक अनाथता और है; हम असावधानी से उसमें न जा गिरें, नहीं तो कहीं के न रहेंगे। जो लोग, संयमी लोगों को अपना

गुरु मानकर उनकी उपासना करते हैं, इस महा-कथा द्वारा वे, अपने माने हुए गुरु के लिए यह जान सकेंगे, कि हम जिन्हें अपना गुरु मान रहे हैं, वे वास्तव में संयम पालन करने वाले और सनाथ हैं, या संयम के नाम से आजीविका करने वाले अनाथ हैं! केवल वेश से तो साधु असाधु की परीक्षा हो नहीं सकती, क्योंकि वेश तो संयम पालने वाले और न पालने वाले दोनों का समान ही है, लेकिन इस महाकथा में जो लक्षण बताये हैं, उनसे, अनाथ, संयम का पालन न करने वाले और थोथा वेश धारण करने वाले, जाने जा सकेंगे। जिससे वे उपासक लोग, धोखा न खावेंगे और धर्म समझ कर, पाप में प्रवृत्त न होंगे।

तात्पर्य यह, कि जिस प्रकार वृक्ष लगाने का उद्देश्य, फल खाना होता है, लेकिन उससे छाया भी मिल जाती है, इसी प्रकार यह कथा, महानिर्ग्रंथों के मार्ग को अपनाने वाले लोगों लिए होते हुए भी, इससे सभी लोग लाभ उठा सकते हैं।

श्री सुधर्मा स्वामी कहते हैं—जम्बू, इस महाकथा का, महामुनि सनाथी ने बड़े विस्तार पूर्वक वर्णन किया। श्री सुधर्मा स्वामी के कथन का अभिप्राय यह है, कि मैंने जो वर्णन किया है, वह तो संक्षिप्त है, लेकिन महामुनि सनाथी ने इसे विस्तार-पूर्वक कहा था।

शास्त्रों में किसी बात का विस्तृत वर्णन नहीं हो सकता। विस्तृत वर्णन से, असुविधा के साथ ही, ग्रन्थवृद्धि का भी भय रहता है। शास्त्रों में, यदि प्रत्येक बात का विस्तृत वर्णन किया जावे, तो शास्त्र बढ़ जावेंगे और साधु उन्हें स्मृति में न रख सकेंगे। इसीलिए शास्त्रों में प्रत्येक बात का संक्षिप्त वर्णन किया गया है। 'सूत्र' शब्द का अर्थ भी, बहुत अक्षर वाले अर्थ को थोड़े में बताना है। उस संक्षिप्त वर्णन की, विस्तृत रूप में व्याख्या करना वक्ता का काम है। हाँ, वक्ता उस विस्तृत व्याख्या में, कोई ऐसी बात मिलाने का अधिकार नहीं रखता, जो शास्त्र-सम्मत न हो, लेकिन शास्त्र की संक्षिप्त बात की विस्तृत व्याख्या करना और उस व्याख्या को युक्ति दृष्टान्त आदि से पुष्ट करना वक्ता का काम है।

महामुनि सनाथी द्वारा वर्णित अनाथता का राजा, श्रेणिक पर कैसा प्रभाव पड़ा, यह बताने के लिए श्री सुधर्मा स्वामी कहते हैं—

तुट्ठो ये सेणिओ राया
इण मुदाहु कयंजली।
अनाहयं जहा भुयं
सुट्ठु मे उवदंसियं ॥५४॥

भावार्थ—सनाथी मुनि से अनाथ की व्याख्या सुनकर,

राजा श्रेणिक, बहुत सन्तुष्ट हुआ और हाथ जोड़ कर कहने लगा, कि आपने मुझे अनाथता के स्वरूप का अच्छा उपदेश दिया।

तूब्भे सुलद्धं खु मणुस्स जम्मं
लाभा सुद्धाय तूमे महेसी ।
तूब्भे सणायाय सबन्धवाय
जं भे ठिया मग्ग जिणुत्तमाणं ॥५५॥

भावार्थ—हे महर्षि, आपका मनुष्यजन्म पाना सफल है। आपने मनुष्य जन्म का बहुत लाभ लिया। आप ही का सुन्दर रूप और मनोहर आकार सार्थक है। आप, जिन मार्ग के यथार्थ सेवी हैं, इसलिए सनाथ और बन्धु बान्धव से युक्त भी आप ही हैं।

श्रेणिक राजा ने, पहले तो यह कहा था, कि इन अच्छी आकृति और सुन्दर रूप वाले युवक ने, संयम लेकर मनुष्य जन्म का अपमान क्यों किया। इस प्रकार राजा श्रेणिक, पहले वही मनुष्य जन्म सार्थक समझता था, उसी की आकृति और उसी का रूप सफल मानता था, जो सांसारिक भोग भोगने में रहे। जिसके माता, पिता, भाई, बहन मित्र आदि हों, उसी को वह सनाथ समझता था। लेकिन सनाथी मुनि से, अनाथ-सनाथ की व्याख्या सुनकर, उसकी यह मान्यता पलट गई। अब वह इस बात को समझ

गया, कि जिन कारणों के विद्यमान रहने पर, मैं, अपने आपको तथा दूसरे को सनाथ समझता था वे कारण तो अनाथता बढ़ाने वाले हैं। यह समझ में आ जाने से, वह, संतुष्ट हुआ और हाथ जोड़कर सनाथी मुनि से कहने लगा, कि आपने मुझे अनाथता के स्वरूप का अच्छा उपदेश दिया। आपके उपदेश से, मुझे यह ज्ञात हो गया, कि इस संसार में, किन लक्षणों वाले अनाथ हैं और कौन सनाथ है! मैंने आपसे, केवल उपदेश में ही अनाथ सनाथ का स्वरूप नहीं सुना, किन्तु इसके साथ ही, मैंने यह भी देखा, कि आप अनाथता के लक्षणों को त्याग चुके हैं, और उस जिन मार्ग के सेवी हैं; जो सनाथता देनेवाला है। आप, अनाथता से निकलकर सनाथ हो चुके हैं, इसलिए आप ही का मनुष्य जन्म सफल है। आप दोनों ही प्रकार की अनाथता से बचे हुए हैं। इतना ही नहीं, किन्तु मनुष्य जन्म का लाभ भी आप ही ने लिया है। मैं, अब तक यह समझता था कि मनुष्य जन्म का लाभ, भोग भोगना ही है लेकिन आपके उपदेश से, मैं यह जान गया कि मनुष्य जन्म का लाभ, भोगों को त्यागकर, संयम अपनाने पर ही है। आपने ऐसा ही किया है, इसलिए मनुष्य जन्म का लाभ भी आप ही को मिला है। आपने संयम लेकर सुन्दर रूप और मनोहर आकृति को भी सार्थक बना लिया। जिस सुन्दर रूप और मनोहर आकृति की प्राप्ति बड़े पुण्य का फल मानी

जाती है, उसे आपने संयम में लगाकर, सुलब्ध वस्तु से सुलाभ ही लिया है। सांसारिक और अनाथता में पड़े हुए लोग, इन सुलब्ध वस्तुओं से सुलाभ नहीं लेते, किन्तु अधिक अनाथता में पड़ने के कारण उत्पन्न करते हैं, लेकिन आपने इनसे संयम का सुलाभ ही लिया है। इसलिए आपको मनुष्य जन्म भी अच्छा मिला और उसका लाभ भी अच्छा मिला।

हे मुनिराज, सांसारिक ऋद्धि-संपदा का स्वामी होने के कारण, मैं, अब तक अपने को सनाथ और आपको अनाथ मानता था; तथा इसी कारण से आपका नाथ बनने के लिए भी तैयार हुआ था। बल्कि मेरे लिए आपका कहा हुआ 'अनाथ' शब्द, मुझे बुरा तथा मिथ्या मालूम हुआ था, लेकिन आपने अनाथता-सनाथता का जो रूप बताया, उससे सुन समझ कर, मेरा उक्त विचार बदल गया। अब मैं, समस्त सांसारिक लोगों के साथ ही अपने आपको अनाथ मानता हूँ और आप ऐसे संयमी को सनाथ मानता हूँ।

हे आर्य, बन्धु-बान्धवों से युक्त भी आप ही हैं। अब तक मैं यह समझता था, कि जिसके माँ, बाप, बहन, भाई, स्त्री आदि परिवार और स्वजातीय लोग तथा नौकर चाकर आदि हों, वही बन्धु बान्धवों से युक्त हैं, लेकिन आपके उपदेश ने, मेरा यह भ्रम मिटा दिया। मैं समझ गया, कि इनके होने से कोई भी बन्धु-बान्धव युक्त नहीं हो सकता। क्योंकि, जो असमय में

काम आवें, वे ही बन्धु बान्धव हैं। माता, पिता, आदि कोई भी, असमय में सहायता नहीं कर सकते। कष्ट के समय यदि ये लोग सहायता कर सकते होते-तो आपके ये सब थे, फिर आप का कष्ट क्यों न मिटा दिया! जब कष्ट-मुक्त नहीं कर सकते तो फिर बन्धु-बान्धव कैसे? आपका उपदेश सुन कर, मेरे हृदय में यह विश्वास हो गया, कि मनुष्यों से बन्धु-बान्धव युक्त नहीं हो सकता, न वे कष्ट के समय सहायता करके कष्ट-मुक्त ही कर सकते हैं। हाँ कष्ट बढ़ा भले दें। उन लोगों में कष्ट मिटाने की क्षमता है ही नहीं। कष्ट को तो संयम ही दूर कर सकता है, जैसे आपका कष्ट संयम ने दूर किया था। हे मुनिराज, कष्टों से मुक्त करने वाला संयम आपमें मौजूद है, इसलिए बन्धु बान्धवों से युक्त भी आपही हैं।

संयम में दृढ़ होने पर, कष्टों का कारण ही मिट जाता है। क्योंकि, जो कष्ट होते हैं, वे पाप-कर्म के ही कारण; और संयम से पाप-कर्म का निरोध हो जाता है। जब कारण ही मिट गया, तब कार्य कहाँ! इसके सिवा, संयमी लोग, कष्टों को कष्ट नहीं मानते। सांसारिक लोग, जिन्हें कष्ट कहते हैं, संयमी लोग, उन्हें ही अपना सहायक मानते हैं। संयमी विचारते हैं, कि 'ये कष्ट नहीं हैं, किन्तु हमारे संयमकी परीक्षा करने वाली कसौटी है, और इस कसौटी के पीछे ही वह सुख छिपा हुआ है, जिसके लिए हमने संसार त्याग कर संयम लिया

है। कष्ट, ये नहीं है, किन्तु पुनः पुनः संसार में जन्मना मरना ही कष्ट है। यदि जन्म-मरण का दुःख मिट जावे, और इस दुःख मिटने के बदले में, हमें यह शरीर भी दे देना पड़े, तो हर्ज नहीं।' इन विचारों के कारण, संयमी के समीप कष्ट तो आते ही नहीं।

राजा श्रेणिक, सनाथी मुनि से कहता है—

तं सि नाहो अणाहाणं सव्व भूयाण संजया।
खामेमि ते महाभाग इच्छामि अणुसासिउं ॥५६॥
पुच्छिऊण मए तुब्भं झाण विग्घो य जं कओ।
निमंतिया य भोगेहिं तं सव्वं मरिसेहि मे ॥५७॥

भावार्थ—हे मुनिराज, सब अनाथ प्राणियों के नाथ आप ही हैं। हे महाभाग, मैं आपकी शिक्षा को इच्छता हूँ-स्वीकार करता हूँ-और आपसे क्षमा-प्रार्थना करता हूँ। मैंने, प्रश्न करके आपके ध्यान में विघ्न किया और आपको भोग भोगने के लिए आमन्त्रित किया ; ये सब अपराध क्षमा करें।

हे मुनिराज, मैं, आपका अनुशासन आपकी शिक्षा—इच्छता हूँ—स्वीकार करता हूँ। यह बात नहीं है, कि मैं आपकी शिक्षा को आपके प्रभाव से प्रभावित होकर, या आपको प्रसन्न करने के लिए, या स्वीकार न करने पर आप नाराज़ होंगे, इसलिए स्वीकार करता होऊँ; किन्तु आपके उपदेश का मनन करके, उसे अच्छा समझ कर स्वीकार करता हूँ। मुझे, यह तो भय ही नहीं

है, कि आपकी शिक्षा स्वीकार न करने पर, आप नाराज हो जावेंगे। मैंने, जब आपको भोगों के लिए आमन्त्रित किया और आपको मृषावादी ठहराया, उस समय भी आप रुष्ट नहीं हुए, तो आपका उपदेश न मानने पर, आप रुष्ट क्यों होगे! इसी प्रकार, आपका उपदेश मान लेने से, आपको असाधारण प्रसन्नता भी न होगी। क्योंकि, मैंने जब आपके रूप सौन्दर्य की प्रशंसा की, तव आप पर मेरे कथन का कोई प्रभाव नहीं पड़ा और आपने मुझे, अनाथ कह ही तो दिया। इसलिए, आपकी प्रसन्नता अप्रसन्नता को दृष्टि में रखकर, मैं आपका उपदेश स्वीकार नहीं कर रहा हूँ, किन्तु आपके उपदेश ने, मेरे हृदय को पलट दिया, मेरी उलटी समझ मिटा दी, इसलिए मैं आपके उपदेश को स्वीकारता एवं हृदय में धारण करता हूँ।

हे महाभाग! आप, मेरे अपराध क्षमा करो। यद्यपि आप क्षमावान् हैं और मेरे अपराधों पर ध्यान न देकर, मुझ पर दया ही करते रहे हैं। मेरे अपराधों के बदले में, आपने मुझ पर क्रोध नहीं किया, न रुष्ट ही हुए, और न बुरा ही माना, किन्तु मुझे दयनीय मानकर, मुझे अनाथ-सनाथ का स्वरूप समझाया और मेरा भ्रम तथा अज्ञान मिटा दिया। फिर भी, यदि मैं अपने अपराधों को आपसे क्षमा न कराऊँ, अब भी मैं अपने अपराधों को न समझ सकूँ, तो यह मेरी महान् कृतघ्नता एवं मूर्खता होगी। सब से पहले तो मैंने आपके ध्यान में विघ्न किया, और आपसे

यह पूछ कर आपकी असातना की, कि इस भोग के योग्य अवस्था में, आपने दीक्षा क्यों ले ली ? यद्यपि मैंने, यह प्रश्न अज्ञानवश किया था, क्योंकि, उस समय तक मैं, इस अवस्था को भोग के ही योग्य समझता था, फिर भी वास्तविक बात को समझने से पूर्व ऐसा प्रश्न करना, अपराध है। मैंने आपके ध्यान में भी विघ्न किया और आपसे प्रश्न भी ऐसा किया, कि जिससे आपकी आसातना हुई। यह, मेरा अपराध आप क्षमा करें।

हे महाभाग ! मेरा दूसरा अपराध यह है, कि मैं आपका नाथ बनने को तैयार हुआ और आपको, सांसारिक भोग भोगने के लिए आमन्त्रित किया। यह अपराध भी, मुझ से अज्ञानवश ही हुआ है। अज्ञान से ही मैंने, आप ऐसे त्यागी को, सांसारिक भोगों के लिए आमन्त्रित किया था। आप, मेरा यह अपराध भी क्षमा करें।

सांसारिक भोगों के त्यागी सनाथी मुनि को, राजा श्रेणिक ने, भाग भोगने के लिए आमन्त्रित ही किया था। इस आमन्त्रण को भी, राजा श्रेणिक अपना अपराध मान रहा है और उसे क्षमा करा रहा है। ऐसी दशा में त्यागियों के लिए भोग-सामग्री जुटाना उन्हें भोगी बनाना, या भोगी बनाने की चेष्टा करना, क्या अपराध नहीं है? अवश्य ही अपराध है, और बहुत से लोग इस बात को जानते भी हैं, फिर भी इस पाप में क्यों प्रवृत होते हैं, यह समझ में नहीं आता।

राजा श्रेणिक कहता है—हे महामुनि, मेरा तीसरा अपराध यह है, कि मैंने आपके कथन को मिथ्या कह कर, आपके महाव्रत को दूषित बताया। यद्यपि, आपने मुझे अनाथ ठीक ही कहा था, लेकिन मैं अनाथ हूँ और जिन्हें मैं, सचमुच अनाथ समझ रहा था, वे आप सनाथ हैं, यह बात मेरी समझ में, आप का उपदेश सुनने पर ही आई। मैंने, अज्ञानवश आपकी असातना की, इसके लिए, मैं आप से क्षमा प्रार्थना करता हूँ। आप, क्षमा करें। यद्यपि आप सन्त हैं; आपके समीप कोई अपराधी या उपकारी तो है ही नहीं। चाहे कोई आपकी निन्दा करे या प्रशंसा, आपकी अवज्ञा करे या वन्दना, आप सभी पर समान कृपा रखते हैं। यह सन्तों का स्वाभाविक लक्षण ही है। फिर भी, मैं अपने आत्मा को हलका करने के लिए अपने हृदय को शुद्ध बनाने के लिए और अपने पापों से निवर्तने के लिए आपसे क्षमा-प्रार्थना करता हूँ। आप, मुझे क्षमा प्रदान करें।

यह कह कर, श्री सुधर्मा स्वामी, श्री जम्बू स्वामी से कहते हैं—

एवं थुणित्ताय स रायसीहो
अणगारसीहं परमाइ भत्तिए।
स ओरोहो य स बन्धवो य
धम्माणुरत्तो विमलेण चेयसा ॥५८॥
ऊससिव रोमकूपो काउण्य पयाहिणं।

अभिवन्दिऊण सिरसा अइयाओ नराहिवो ॥५६॥

भावार्थ—वह राज सिंह श्रेणिक, इस प्रकार भक्ति पूर्वक मुनिसिंह की स्तुति करके, निर्मल मन से, बन्धु बान्धवों और अन्तःपुर सहित धर्म का अनुरागी हुआ। प्रसन्नता के कारण, उसके शरीर में, रोमांच हो रहा था। वह, मुनि की प्रदक्षिणा एवं मुनि को वन्दना नमस्कार करके, अपने स्थान पर चला गया।

राजा श्रेणिक, उस समय के राजाओ में, सिंह के समान बड़ा माना जाता था। दूसरे राजाओं की अपेक्षा, उसमें, बल बुद्धि, साहस, धैर्य, आदि सद्गुण भी अधिक थे, राज्य विस्तार भी अधिक था, वैभव सम्पदा में भी अप्रतिभ था। इसी प्रकार वह सत्य बात को स्वीकार करने, या कहने में भी भय या संकोच नहीं करता था। सनाथी मुनि ने, प्रारम्भ में जब उसे अनाथ बताया था तब उसने मुनि से निर्भयता-पूर्वक यह कहा था, कि 'मैं अनाथ कैसे हूँ ? मुनि को, झूठ तो न बोलना चाहिये !' इस प्रकार निर्भयता-पूर्वक बात कहने का साहस, प्रत्येक आदमी में नही हो सकता। उस समय तक, वह अपनी बात सत्य समझ रहा था, इसलिए, मुनि की बात को मिथ्या बताने में, वह किंचित भी भयभीत नहीं हुआ। इसी प्रकार, जब उसने अनाथता का स्वरूप समझ लिया, तब अपने आपको अनाथ मानने में, सकुचाया भी नहीं। बल्कि, सनाथी मुनि का उपदेश स्वीकार कर लिया।

राजा श्रेणिक ने, पहले तो मुनि के सामने जाते ही उन्हें वन्दन-नमस्कार किया था। पश्चात्, मुनि से अपने प्रश्नों का उत्तर सुन कर उनका उपदेश श्रवण करके जाने के समय भी उसने क्षमा-प्रार्थना की और प्रदक्षिणा एवं वन्दन-नमस्कार किया। यह, साधुओं के समीप जाने आने एवं प्रश्न करने आदि के समय काम में लाई जाने वाली, बहुत साधारण सभ्यता है। इस सभ्यता एवं भक्ति के बिना, किसी सदुपदेश से पूर्णतया लाभ भी नहीं होता

सनाथी मुनि ने, राजा श्रेणिक को जो उपदेश दिया था, उसमें उन्होंने ऋद्धि-सुख या स्वर्ग का लोभ नहीं बताया था, किन्तु सांसारिक बातों से, पराङ्मुख होने का उपदेश दिया था। फिर भी मुनि का उपदेश सुनकर, उसे अपूर्व हर्ष हुआ। वह, वीर और सत्य का जिज्ञासु था। इसी कारण, मुनि का उपदेश सुनकर, उसने अपना हृदय पलटने में, किंचित भी देर नहीं की। उसने अपने पूर्व-विचारों को त्याग दिया और मन में किसी प्रकार की मलीनता रखे विना, निर्मल मन से, सनाथी मुनि द्वारा उपदेशित धर्म का अनुरागी हुआ। सनाथी मुनि के उपदेश द्वारा प्राप्त धर्म से, केवल उसने अकेले ने ही लाभ नहीं लिया, किन्तु अपने साथ ही, रानियों एवं बन्धु-बान्धवों को भी उस धर्म का लाभ दिया। अर्थात्, वह बन्धु बान्धवों और रानियों सहित धर्म का अनुरागी हुआ।

सत्य के जिज्ञासु वीर का हृदय, सच्चे उपदेश से बहुत

जल्दी पलट जाता है। ऐसा व्यक्ति, दुराग्रह या पक्षपात में नहीं पड़ता। यह बात दूसरी है कि परिस्थिति आदि के विचार से, ऐसा व्यक्ति, प्रकट में अपनी मान्यता न पलट सके, लेकिन उच्च कुल एवं उच्च करणीवाला व्यक्ति, सच्ची बात स्वीकार करने में, कदापि देर न करेगा। मुनि के सच्चे उपदेश को स्वीकार करने, एवं व्यवहार में इस उपदेश को दृष्टि में रखने के कारण ही, राजा श्रेणिक, भविष्य में पद्मनाथ नाम का तीर्थङ्कर होगा।

श्री सुधर्मा स्वामी कहते हैं—

इयरो वि गुण समिद्धो तिगुत्ति गुत्तो तिदंड विरओ य।
विहग इव विप्पमुक्को विहरइ वसुहं विगय मोहो॥ ६०॥

भावार्थ—गुणों से समृद्ध, त्रिगुप्ति से गुप्त और मन वचन काय से किसी को दण्ड न देनेवाले सनाथी मुनि भी, बन्धन रहित स्वतन्त्र पक्षी की तरह, मोह रहित अन्यत्र विचरने लगे।

संयम के नियमों का पालन करना, त्रिगुप्ति से गुप्त रहना और मन वचन काय से किसी भी जीव को दुःख न देना, यह तो संयमी का कर्त्तव्य है ही, लेकिन जिस प्रकार स्वतंन्त्र पक्षी एक जगह से दूसरी जगह उड़ता रहता है, उसी प्रकार एक जगह से दूसरी जगह विचरते रहना, किसी एक स्थान से मोह करके उसी स्थान पर न रहना भी, मुनि का कर्त्तव्य है। राजा श्रेणिक, सनाथी मुनि का उपदेश सुनकर उनका भक्त बन गया

था, फिर भी सनाथी मुनि राजगृह नगर या उसके बाग में, अधिक नहीं ठहरे, किन्तु वहाँ से विहार कर गये। इस प्रकार भ्रमण करते रहनेवाला साधु ही संयम का पालन कर सकता है। वृद्धावस्था, बीमारी, आदि एवं चातुर्मास के सिवा किसी एक स्थान पर अधिक समय तक रहना, मुनि-कर्त्तव्य के विरुद्ध है।

श्री सुधर्मा स्वामी ने, श्री सनाथी मुनि द्वारा वर्णित अनाथता सनाथता का स्वरूप, श्री जम्बू स्वामी को सुनाया। इस स्वरूप को समझकर जो अनाथता का परित्याग करेगा, एवं जो ऐसे अनाथता के त्यागी की उपासना करेगा, वह, परम्परा पर भव-बन्धन से छूटकर मोक्ष प्राप्त करेगा।

ॐ शान्ति।

——×——